प्रकाशक :

मंत्री-श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर, राजस्थान)

•

द्वितीय संस्करण

अप्रैल १९६७

•

मूल्य : दो रुपया

•

मुद्रक :

जैन आर्ट प्रेस

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर

प्रकाशकीय

युगद्रष्टा ज्योतिर्धर जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म० सा० की पीयूषवर्षी वाणी में समयविशेष की नहीं, वरन् मानवीय जीवन की सभी समस्याओं और भावनाओं का समाधानात्मक विवेचन किया गया है। पूज्यश्री ने अपनी वाणी द्वारा जैनधर्म की आचार-विचार-मूलक मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए विश्व, राष्ट्र और समाज में नव-जीवन का संचार किया है।

स्वयं के जीवन का विकास करना और दूसरों का जीवन-निर्माण करना—इन दोनों में अन्तर है। जगत में आत्म-साधना में तल्लीन रहने वाले महापुरुष कम नहीं हैं, लेकिन अपने आचार-विचार के नियमों का यथाविधि पालन करते हुए जन-जीवन का निर्माण करना, धर्मनिष्ठ बनाना आदि सत्प्रवृत्तियां करने वाले महापुरुष विरले ही मिलते हैं। ऐसे महापुरुषों में आचार्य श्री जी का स्थान अपूर्व और अद्वितीय है।

आचार्य श्री जी की वाणी को ध्यान पूर्वक पढ़ने पर प्रत्येक पाठक यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि मानव के आध्यात्मिक, नैतिक एवं व्यावहारिक धर्म की ऐसी सुन्दर, सिद्धान्तसंगत और उदार व्याख्या करनेवाली

प्रतिभा क्वचित्, कदाचित व्यक्तिविशेष में परिलक्षित होती है।

आचार्य श्री जी अपने प्रतिपाद्य विषय को प्रभावशाली और गूढ़ विषय को सहज सुगम बनाने के लिए यथायोग्य उदाहरणों, कथानकों का आश्रय लेते थे। कथानक के कहने की उनकी शैली निराली थी। साधारण-से-साधारण कथानक में वे चेतना डाल देते थे। उसमें जादू-सा असर आ जाता था। वे प्रायः पुराणों व इतिहास में वर्णित कथाओं का ही प्रवचन करते थे, पर अनेकोंवार सुनी हुई कथा भी उनके मुख से एकदम मौलिक एवं अश्रुतपूर्व-सी प्रतीत होने लगती थी।

आचार्य श्री जी के प्रवचनों में यथास्थान उपयुक्त कथानकों की एक बड़ी संख्या है। वे सभी अपने आपमें परिपूर्ण हैं। उनका आपस में कोई सिलसिला नहीं है। अतएव उनके वर्गीकरण की विशेष आवश्यकता नहीं है। फिर भी पाठकों की सुविधा के लिये पौराणिक, ऐतिहासिक और लौकिक उदाहरण के रूप में वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया है। उनमें से प्रस्तुत पुस्तक में पौराणिक उदाहरणों का संकलन प्रकाशित है। उदाहरणों में विशेषरूप से यह लक्ष्य रखा गया है कि उनमें मिलनेवाली शिक्षा का भी उनके साथ समावेश अवश्य हो जावे। यदि संक्षेप में कहें तो इन कथानकों के माध्यम से नीति की शिक्षा दी गई है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण श्री जवाहर साहित्य

समिति की ओर से श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्र जी गेलड़ा द्वारा अपनी पुण्यश्लोका मातेश्वरी श्रीमती गणेशवाई की पुण्यस्मृति में साहित्य प्रकाशन हेतु दिये गये ६०१०.०० से प्रकाशित हुआ था। वह अब अप्राप्य है। इसलिये पाठकों की वार-वार मांग होने से यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

जवाहर-किरणावली की सभी अप्राप्य किरणों को प्रकाशित करने का विचार तो बहुत समय से था। किन्तु मुद्रणालय की उचित व्यवस्था न हो सकने से रुकावट आ रही थी। लेकिन अब श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा स्थापित 'जैन आर्ट प्रेस' में मुद्रण की संतोषजनक व्यवस्था होने से नियमितरूप से उनका प्रकाशन कर रहे हैं।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ और मुद्रणालय के सक्रिय सहयोग से पुस्तक को सुन्दर व आकर्षक रूप में प्रकाशित कर सके हैं। एतदर्थ हार्दिक आभार मानते हैं और भविष्य में सहकार की आकांक्षा है।

भीनासर
चैत शुक्ला १, सं० २०२४

चंपालाल बांठिया
मंत्री श्री जवाहर साहित्य समिति

विषयानुक्रमणिका

१ : सेवामूर्ति मुनि नंदिषेण

[शास्त्र में जब मुनियों के लिए भी सेवा करने का विधान किया गया है तब तुम्हें कितना अधिक सेवाकार्य करना चाहिए, इस बात का विचार तुम स्वयं ही कर सकते हो। कितनेक लोगों को सामायिक-पौषध आदि धार्मिक क्रिया करने का तो खूब चाव होता है, परन्तु सेवाकार्य करने में अरुचि होती है और अगर किसी रोगी की सेवा करने का अवसर आ जाता है तो उन्हें बड़ी कठिनाई मालूम होती है। रोगी कपड़े में ही कै-दस्त कर देता है और कभी-कभी रास्ते में ही चक्कर खाकर गिर पड़ता है। ऐसे रोगी की सेवा करना कितना कठिन है ! फिर भी जो सेवाभावी लोग रोगी की सेवा को परमात्मा की सेवा मानकर करते हैं, उनकी भावना कितनी ऊँची होगी ?

वास्तव में यह अखिल संसार सेवा के कारण ही टिक रहा है। जब संसार में सेवाभावना की कमी हो जाती है तभी उत्पात मचने लगता है और जब सेवाभाव की वृद्धि होती है तब यह संसार स्वर्ग के समान बन जाता है। अतएव सेवाकार्य करने में तनिक भी उपेक्षा नहीं करना चाहिए और न छल-कपट ही करना चाहिए। जो मनुष्य माता-पिता अथवा अन्य किसी भी मनुष्य की सेवा करने में छल-कपट करता हुआ भी अपने को सेवाभावी कहलवाता है, वह वास्तव में सेवाभावी नहीं वरन् ढोंगी है। सच्चा सेवक तो वही है जो सेवा करने में छल-कपट का आश्रय नहीं लेता और सेवाकार्य के प्रति घृणाभाव भी प्रदर्शित नहीं करता। जहां घृणा है वहां सच्ची सेवा नहीं हो सकती।

मुनि के लिए किस सीमा तक सेवा करने का विधान किया

गया है, यह बताने के लिए एक जैन उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न करता हूँ—]

नंदिषेण नामक एक मुनि बहुत ही सेवाभावी थे। उनकी सेवा की प्रशंसा इन्द्रलोक तक जा पहुँची। इन्द्र ने देवसभा में नंदिषेण मुनि की सेवा की प्रशंसा करते हुए कहा—

राजकुमार होने पर भी नंदिषेण मुनि ऐसी सेवा करते हैं कि उन जैसी सेवा करना दूसरों के लिए बड़ा कठिन है।

इन्द्र के यह प्रशंसात्मक वचन सुनकर एक देव ने विचार किया—इन्द्र महाराज देवों के सामने एक मनुष्य की इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं? अच्छा, उस सेवाभावी मुनि की परीक्षा क्यों न की जाय? आखिर नंदिषेण मुनि मनुष्य हैं। मनुष्य की नाक में दुर्गन्ध जाती है; अतएव दुर्गन्ध द्वारा उन्हें घबरा देना स्वाभाविक और सरल है। इस प्रकार विचार करके उस देव ने नंदिषेण मुनि की परीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

वह देव साधु का स्वांग बनाकर जहाँ नंदिषेण मुनि ठहरे थे, वहाँ पास के एक जंगल में जाकर पड़ रहा। उस देव ने अपने शरीर को ऐसा रुग्ण बना लिया कि शरीर के छिद्रों में से रक्त और मवाद बहने लगा। उस रक्त और पीव में से असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी। इस प्रकार रोगी साधु का भेष धारण करके उस देव ने नंदिषेण मुनि के पास समाचार भेजा कि पास के जंगल में एक साधु बहुत बीमार हालत में पड़े हैं। उनकी सेवा करने वाला कोई नहीं है, अतः उन्हें बहुत अधिक कष्ट हो रहा है।

नंदिषेण मुनि को जैसे ही यह समाचार मिले कि वे तुरन्त उन रोगी साधु की सेवा करने के लिए चल पड़े। मुनि मन-ही-मन विचारने लगे—'मेरा सौभाग्य है कि मुझे साधु-सेवा का ऐसा सुअवसर हाथ आया है।'

इस प्रकार विचार कर नंदिषेण मुनि रोगी साधु की सेवा करने

के लिए जंगल में पहुँचे। मुनि उस कपटी वेषधारी रोगी साधु की ओर ज्यों-ज्यों आगे जाने लगे त्यों-त्यों उन्हें अधिकाधिक दुर्गन्ध आने लगी। परन्तु नंदिषेण मुनि उस असह्य दुर्गन्ध से न घबराकर रोगी साधु के समीप पहुँच गये। नंदिषेण मुनि को आते देखकर वह साधुवेषधारी देव क्रुद्ध होकर कहने लगा—'तुम क्यों इतनी देर करके आये ? मुझे कितना कष्ट हो रहा है; इसका तुम्हें खयाल ही नहीं है ? सेवाभावी कहलाते हो और सेवा करने के समय इतना विलम्ब करते हो !' साधुरूपधारी देव इस प्रकार कहकर नंदिषेण को उपालंभ देने लगा।

यद्यपि देव ने अपना शरीर घृणोत्पादक बनाया था और उसके शरीर से दुस्सह दुर्गन्ध फूट रही थी, फिर भी नंदिषेण मुनि दुर्गन्ध से न घबराकर उसकी सेवा करने के लिए उसके पास गये। मगर पास पहुँचते ही वह देव नाराज होकर उपालंभ देने लगा। उपालंभ सुनकर नंदिषेण मुनि तनिक भी नाराज न हुए। उल्टे विलम्ब के लिए क्षमा-याचना करने लगे। उन्होंने सेवा करने की आज्ञा देने की भी मांग की।

नंदिषेण की बात सुनकर देव ने कहा—देखते नहीं, मेरा शरीर कितना रुग्न, दुर्बल और अस्वस्थ बन गया है। शरीर की सेवा करने के सिवाय और क्या आज्ञा तुम चाहते हो।

मुनि ने विचार किया—मगर मैं नगर में दवा लेने जाऊँगा तो बहुत देरी लगेगी। ऐसा विचार कर उन्होंने देव से कहा—अगर आप नगर में चलें तो ?

देव—मेरे पैरों में चलने की शक्ति होती तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता ही क्या थी ?

मुनि—मेरे पैर भी तो आपके ही हैं। आप मेरे कंधे पर बैठ जाइए। मैं उठाकर नगर तक ले चलूंगा।

देव—मेरे हाथों में भी तो शक्ति नहीं है। तुम्हारे कंधे पर चढ़ूं तो कैसे चढ़ूं ?

मुनि—तो क्या हानि है ? मैं खुद ही आपको कंधे पर बिठला लूंगा।

के लिए जंगल में पहुँचे। मुनि उस कपटी वेषधारी रोगी साधु की ओर ज्यों-ज्यों आगे जाने लगे त्यों-त्यों उन्हें अधिकाधिक दुर्गन्ध आने लगी। परन्तु नंदिषेण मुनि उस असह्य दुर्गन्ध से न घबराकर रोगी साधु के समीप पहुँच गये। नंदिषेण मुनि को आते देखकर वह साधुवेषधारी देव क्रुद्ध होकर कहने लगा—'तुम क्यों इतनी देर करके आये? मुझे कितना कष्ट हो रहा है; इसका तुम्हें खयाल ही नहीं है? सेवाभावी कहलाते हो और सेवा करने के समय इतना विलम्ब करते हो!' साधुरूपधारी देव इस प्रकार कहकर नंदिषेण को उपालंभ देने लगा।

यद्यपि देव ने अपना शरीर घृणोत्पादक बनाया था और उसके शरीर से दुस्सह दुर्गन्ध फूट रही थी, फिर भी नंदिषेण मुनि दुर्गन्ध से न घबराकर उसकी सेवा करने के लिए उसके पास गये। मगर पास पहुँचते ही वह देव नाराज होकर उपालंभ देने लगा। उपालंभ सुनकर नंदिषेण मुनि तनिक भी नाराज न हुए। उल्टे विलम्ब के लिए क्षमा-याचना करने लगे। उन्होंने सेवा करने की आज्ञा देने की भी मांग की।

नंदिषेण की बात सुनकर देव ने कहा—देखते नहीं, मेरा शरीर कितना कृश, दुर्बल और अस्वस्थ बन गया है। शरीर की सेवा करने के सिवाय और क्या आज्ञा तुम चाहते हो।

मुनि ने विचार किया—मगर मैं नगर में दवा लेने जाऊँगा तो बहुत देरी लगेगी। ऐसा विचार कर उन्होंने देव से कहा—अगर आप नगर में चलें तो?

देव—मेरे पैरों में चलने की शक्ति होती तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता ही क्या थी?

मुनि—मेरे पैर भी तो आपके ही हैं। आप मेरे कंधे पर बैठ जाइए। मैं उठाकर नगर तक ले चलूंगा।

देव—मेरे हाथों में भी तो शक्ति नहीं है। तुम्हारे कंधे पर चढ़ूं तो कैसे चढ़ूं?

मुनि—तो क्या हानि है? मैं खुद ही अपने कंधे पर विठला लूंगा।

सच्चा सेवक अपनी शक्ति को दूसरों की ही शक्ति मानता है और अपना तन, मन पर की सेवा के लिए समर्पित कर देता है। सेवा का यह आदेश अगर जनसमाज के हृदय में अंकित हो जाय तो यह संसार स्वर्ग बन जाय।

नंदिषेण मुनि ने उस देव को अपने कंधे पर चढ़ा लिया। देव ने नंदिषेण मुनि को सेवा की प्रतिज्ञा विचलित करने के लिए अपने शरीर में से रक्त और पीव की धारा बहाई, मगर नंदिषेण मुनि अपनी सेवाभावना को स्थिर और दृढ़ करते हुए देव के दुर्गन्धमय शरीर को उठाकर नगर में ले गये। देव के शरीर से निकलती दुर्गन्ध के कारण तथा देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर नगरजन मुनि से कहने लगे—'आप ऐसे रोगी मनुष्य को नगर में नहीं ले जा सकते। एक रोगी के पीछे अनेकों को रोगी नहीं बनाना चाहिए।'

नागरिक जनों का विरोध देखकर मुनि की स्थिति कितनी बेढंगी हो गई होगी? ऐसी विषम स्थिति में मुनि के मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु उन्होंने खोटा तर्क-वितर्क नहीं किया। वे समभावपूर्वक नागरिक लोगों की बात सुनते रहे। मुनि ने मन-ही-मन विचार किया—'मैं नगरजनों को भी दुःखी नहीं कर सकता और इस रोगी साधु की सेवा का भी परित्याग नहीं कर सकता। हे प्रभो! ऐसी विकट स्थिति में क्या करूँ?'

नंदिषेण मुनि इस प्रकार विचार कर रहे थे। इतने में साधु-वेषधारी देव ने भी विचार किया—'ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी इन मुनि के हृदय में सेवा के प्रति उतना ही दृढ़ विश्वास है। वास्तव में इन मुनि की सेवाभावना अत्यन्त उच्च कोटि की है। इन्द्र महाराज ने इनकी सेवाभावना की जितनी प्रशंसा की थी, वास्तव में मुनि का सेवाभाव वैसी ही प्रशंसा का पात्र है।' इस प्रकार विचार करके साधुवेषधारी देव साधुवेष का त्याग करके, अपने स्वाभाविक रूप में नीचे उतरा और मुनि के पैरों पर गिरकर कहने लगा—हे मुनिपुंगव!

आपकी सेवाभावना की जैसी प्रशंसा इन्द्र महाराज ने की थी, आप वैसे ही सेवा-मूर्ति हैं। आपने सेवा द्वारा देवों को भी जीत लिया है। सेवा करने वाला देवों को भी जीत लेता है। शास्त्र में भी कहा है:—

देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

अर्थात्—जिनका मन धर्म में सदा अनुरक्त रहता है, उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं।

वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति के आगे देव भी नतमस्तक हो जाते हैं तो साधारण लोग अगर सेवाभावी को नमस्कार करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? सेवाभावी व्यक्ति को मन में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रखना चाहिए। जिनके मन में विकारभाव नहीं होता, देव भी उनकी सेवा करते हैं। अतएव मन को पवित्र रखो।

२ : क्षमामूर्ति खंधक मुनि

[क्रोध, मान, माया तथा लोभ—यह चार कषाय भवचक्र में भ्रमण कराते हैं। अगर हम भवचक्र में भ्रमण नहीं करना चाहते और आत्मा को शान्ति देना चाहते हैं तो क्षमा आदि साधनों द्वारा क्रोध आदि कषायों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षमा द्वारा क्रोध किस प्रकार जीता जा सकता है, यह बात युधिष्ठिर के जीवन से समझी जा सकती है। युधिष्ठिर की भांति 'कोपं मा कुरु' इस धर्मशिक्षा को तुम अपने हृदय में उतारकर सक्रिय रूप दोगे तो तुम भी धर्मात्मा बनकर आत्म-कल्याण साध सकोगे।

क्रोध आदि को जीतने का मार्ग तो बतलाया परन्तु क्रोध आदि के उत्पन्न होने पर किस प्रकार सहनशीलता और क्षमा धारण करना चाहिए, वह बात खंधक मुनि के उदाहरण द्वारा समझाता हूँ। सहनशीलता सीखने के लिए खंधक मुनि की सहनशीलता अपने लिये आदर्श है। इस आदर्श का अनुसरण करने में ही अपना कल्याण है।]

खंधक मुनि गृहस्थावस्था में राजकुमार थे। वे राजकाज करने में निपुण थे। उनके राज्यसंचालन से प्रजा संतुष्ट और सुखी थी। एक बार उन्हें किसी विद्वान मुनि का उपदेश सुनने का अवसर मिल गया। मुनिवर के उपदेश का प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा। उन्होंने विचार किया—मैं अपनी धीरता और वीरता का उपयोग केवल दूसरों के ही लिये करता हूँ। यह योग्य नहीं है। मुझे अपने इन गुणों का उपयोग अपनी आत्मा के लिये भी करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपने माता-पिता से अनुरोध किया— 'मैं आत्मा का श्रेयस्

करना चाहता हूँ, अतएव ऐसा करने की आज्ञा दीजिए।' माता-पिता ने कहा--पुत्र ! तू आत्मा का श्रेयस् करना चाहता है, यह अच्छी बात है, प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कर।' खंधकजी बोले—'संसार में रहकर आत्म-श्रेयस् साधना मुझे कठिन प्रतीत होता है, अतएव मैं संसार का त्याग करके आत्मकल्याण करने की इच्छा करता हूँ।' पुत्र का यह कथन सुनकर उनके माता-पिता दुखित होकर कहने लगे—'बेटा ! संसार का त्याग थोड़े ही हो सकता है।' खंधकजी बोले—'ऐसा है तो आप यह कहिए कि आत्मकल्याण न साध। अथवा यह कहिए कि संसार का त्याग करके आत्मकल्याण नहीं किया जा सकता।' खंधकजी का यह कथन सुनकर माता-पिता उनका निश्चय और सदाशय समझ गए और उन्होंने संसार-त्याग करके आत्मकल्याण करने की आज्ञा दे दी। साथ ही यह कहा—'बेटा ! तू क्षत्रियपुत्र है। अतएव सिंह की भाँति ही संयम का पालन करना।' खंधकजी ने माता-पिता की शिक्षा शिरोधार्य करते हुए कहा—'आपका कथन समुचित है। मैं आपके आदेशानुसार संयम-पालन में सिंहवृत्ति धारण करने का अभ्यास करूँगा।'

खंधकजी ने उत्साह और वैराग्य के साथ संयम स्वीकार किया। पिता ने विचार किया—'खंधक ने आज तक किसी प्रकार का कष्ट सहन नहीं किया है। अतएव मुझे ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए कि उसे किसी प्रकार का उपद्रव न सतावे।' इस प्रकार विचार करके पिता ने पुत्रमोह से प्रेरित होकर पांच सौ सैनिकों की व्यवस्था कर दी। ऐसा प्रबन्ध किया गया कि खंधकजी को इस बात का पता न लगे मगर उनकी बराबर रक्षा होती रहे। सैनिक गुप्त रूप से खंधक मुनि के साथ रहने लगे। खंधक मुनि को इन रक्षक सैनिकों का पता नहीं था। वह तो यही मानते थे कि मेरी रक्षा करने वाला मेरा आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार खंधक मुनि तपश्चरण करके आत्मकल्याण करने लगे और आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

विहार करते-करते वे अपनी संसारावस्था की बहिन के राज्य में

पधारे। उनके पीछे गुप्त रूप से चले आने वाले सैनिक विचारने लगे—अब खंधकजी अपनी बहिन के राज्य में आ पहुँचे हैं। अब किसी प्रकार के उपद्रव की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार निश्चिन्त होकर सैनिक अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे कार्यों में लग गए। इधर खंधक मुनि आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान हो जाने के कारण तपश्चरण द्वारा शरीर को सुखाकर आत्मा को बलवान बनाने में लगे हैं।

एक बार खंधक मुनि भिक्षाचरी करने के लिए राजमहल के पास से निकले। उस समय राजा और रानी राजमहल की अटारी पर बैठकर नगर-निरीक्षण करने के साथ-ही-साथ मनोविनोद कर रहे थे। रानी की दृष्टि अकस्मात् मुनि के ऊपर पड़ गई। मुनि को देखते ही रानी विचारने लगी—मेरा भाई भी इन्हीं मुनि की तरह भ्रमण करता होगा इस तरह विचारमग्न होने के कारण रानी क्षण भर के लिए मनोविनोद और वाणीविलास को भूल गई। राजा ने देखा—साधु को देखकर मुझे भूल गई है और दूसरे ही विचारों में डूब गई है। यह साधु शरीर से तो कृश है पर ललाट इसका तेजस्वी है। इस मुंडित साधु के प्रति रानी का प्रेमभाव तो नहीं होगा? इस विषय में दूसरों की सलाह लेना भी अनुचित है। अतएव किसी और से पूछने की अपेक्षा इस साधु को समाप्त कर देना ही ठीक है। इस प्रकार विचार कर राजा ने नौकर (चाण्डाल) को बुलाकर आज्ञा दी—उस साधु को वधभूमि पर ले जाओ और मार कर उसकी खाल उतार लाओ।

राजा की यह कठोर आज्ञा सुनकर चांडाल कांप उठा। वह मन-ही-मन विचार करने लगा—आज मुझे कितना जघन्य काम सौंपा गया है! मैं चाकर हूँ अतएव यह काम किये बिना छुटकारा नहीं। अगर मैं राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता हूँ तो मैं उनका कोप-भाजन बनूंगा और शायद मुझे प्राणदण्ड दिया जायगा। इस प्रकार विचार कर वह खंधक मुनि के पास आया और उन्हें पकड़ने लगा। मुनि ने पूछा—मुझे किस कारण पकड़ा जा रहा है? चांडाल ने कहा—राजा

ने पकड़ने की आज्ञा दी है। अतएव चुपचाप मेरे पीछे चले आओ।

मुनि ने पूछा—चलना कहाँ है ?

चांडाल—श्मशानभूमि में।

मुनि—किसलिए ?

चांडाल—राजा की आज्ञा के अनुसार वहाँ तुम्हारा वध किया जायगा और तुम्हारे शरीर की खाल उतरी जायगी।

यह हृदयविदारक वचन सुनकर मुनि को आघात पहुँचना स्वाभाविक है। परन्तु खंधक मुनि को शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान था। अतएव वह विचारने लगे— यह शरीर नश्वर है। किसी-न-किसी दिन जीर्ण-शीर्ण हो जायगा। ऐसी स्थिति में अगर आज ही यह नष्ट होता है तो इसमें मुझे दुःख मानने की क्या आवश्यकता है ? मेरा आत्मा तो अजर-अमर है। उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। इस प्रकार विचार करके और धैर्य धारण करके खंधक मुनि चुपचाप नौकर के पीछे-पीछे चलने लगे। जब दोनों वधस्थल पर पहुँचे तो मुनि ने चाण्डाल से कहा— भाई ! मेरे शरीर में रक्त नहीं है, इस कारण चमड़ी हाड़ों के साथ चिपट गई है। तो खाल उधेड़ने के लिए कोई साधन साथ में लाये हो या नहीं ? अगर कोई साधन नहीं लाये हो तो तुम्हें बहुत कष्ट होगा। मुनि का यह मार्मिक कथन सुनकर वह लज्जित हो गया। वह मन में विचार करने लगा—कितना पापी हूँ मैं ! मुझे अपने इन पापी हाथों से एक महात्मा के शरीर की खाल उतारनी पड़ेगी। वह नम्र-भाव से मुनि से कहने लगा— आप महात्मा हैं। आपके हृदय में मुझ जैसे पापात्मा के प्रति भी करुणा है। परन्तु इस समय मैं निरुपाय हूँ। मुझे अनिच्छा से और दुखित मन से भी आपके वध का पाप करना पड़ेगा।

वधस्थल पर ले जाकर चांडाल ने दुःखी हृदय से मुनि का वध किया और उनके शरीर की खाल उतार ली। परन्तु वह शांतमूर्ति मुनिराज पर-मात्मा के ध्यान से तनिक भी विचलित नहीं हुए। शरीरनाश के समय उन्होंने अपनी आत्मा का परमात्मा के साथ ऐसा अनुसन्धान किया कि

परमात्मा का ध्यान करते हुए उन्हें मृत्यु का दुःख मालूम ही नहीं हुआ मुनि के मन में किसी के प्रति न क्रोधभाव उत्पन्न हुआ और न वैरभाव ही उत्पन्न हुआ। उस समय खंधक मुनि क्षमा की साक्षात् मूर्ति वन गये क्षमाशीलता का इससे ऊँचा आदर्श और क्या हो सकता है ? क्षमाशील रहना तो साधु का धर्म है। समर्थ साधु ही ऐसा वधपरिषह सह सकते हैं। क्षमाशील साधु कैसे होते हैं, इस सम्वन्ध में शास्त्र में कहा है:—

हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं समायरे॥

अर्थात्— कोई प्राणों का हरण करे तो भी भिक्षु उस पर क्रोध न करे, यहाँ तक कि मन में भी द्वेष न लाये। वल्कि तितिक्षा (सहनशीलता-क्षमा) को उत्तम गुण समझकर क्षमाशील साधु क्षमाधर्म का ही पालन करे।

खंधक मुनि ने दस प्रकार के साधु धर्मों में प्रथम और प्रधान क्षमाधर्म को सर्वोत्कृष्ट समझकर प्राण अर्पण कर दिये और जगत के समक्ष क्षमा का अनूठा आदर्श उपस्थित करने के साथ अपने जीवन को धन्य वना लिया। खंधक मुनि ने प्राण त्याग करते समय ऐसी उच्च भावना भायी थी कि:—

चाहत जीव सबै जग जीवन, देह समान नहीं कछु प्यारो।
संयमवंत मुनिश्वर को, उपसर्ग हुए तन नाशन हारो॥
तो चिंतवे हम आतमराम, अखंड अवाधित ज्ञान भंडारो।
देह विनाशिक सो हम तो नहीं, शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो॥

खंधक मुनि ने इस प्रकार की उच्च भावना भाते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया। जिस उद्देश्य के लिए उन्होंने संसार त्याग किया था, वह आत्म-श्रेय-साधन का उद्देश्य सिद्ध करके मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार खंधक मुनि सिद्ध, वुद्ध और मुक्त हो गए।

वह नौकर, जिसने मुनि का वध किया था, मुनि की खाल लेकर राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने मुनि की खाल उतार लाने की

आज्ञा तो अवश्य दी थी, परन्तु जब मुनि के शरीर की खाल उसकी दृष्टि के सामने आई तो उसे देखकर वह एक बार कांप उठा। कहने लगा—हाय ! मैंने यह कैसा कुकृत्य किया कि एक महात्मा के शरीर की खाल उतरवा ली ! नौकर ने महात्मा की धीरता, वीरता और क्षमा की सब बात कही। नौकर की बातें सुनकर राजा पश्चात्ताप करने लगा। उसे इतना संताप हुआ कि आँखों से आँसुओं की धारा वहने लगी। जब रानी को विदित हुआ कि किसी मनुष्य की खाल उतरवाई गई है और रानी ने उसे जाकर प्रत्यक्ष देखा तो वह भी रुदन करने लगी।

इसी बीच एक चील राजा के महल पर उड़ती-उड़ती आई। उसने रक्त से रंजित मुनि की मुखवस्त्रिका या दूसरा कोई वस्त्र उठा लिया था। मगर उस चीज में उसे कोई स्वाद नहीं आया। अतएव उसने वह वस्त्र राजा के महल पर ही छोड़ दिया और वह उड़ गई। खून से लथपथ वह वस्त्र रानी को नजर आ गया। रानी ने उसी समय वह वस्त्र मँगवाकर देखा तो जान पड़ा कि यह वस्त्र किसी मुनि का मालूम होता है। रानी राजा के पास गई और कहने लगी—महाराज ! आपके राज्य में किसी मुनि का घात हुआ है। यह वस्त्र उन्हीं मुनि का मालूम होता है। रानी ने यह भी कहा—उन मुनि ने ऐसा क्या अपराध किया था कि आपने उन्हें प्राणदण्ड दिया ? रानी के प्रश्न के उत्तर में राजा ने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा का कथन सुनकर रानी के दुःख का पार न रहा।

रानी ने कहा—मुनि को प्राणदण्ड देने से पहले जांच तो कर लेते कि मैंने मुनि की ओर किसलिए देखा ! आपने यह कुकृत्य करके घोर अनर्थ किया है। मुनि को देखकर मेरे मन में विचार आया कि मेरा भाई भी इन मुनि की तरह ही घर-घर भिक्षा के लिए भटकता होगा ! आपने मेरी दृष्टि में विकार देखा, मगर वास्तव में मेरी दृष्टि में अथवा मुनि की दृष्टि में किसी प्रकार का विकार नहीं था।

राजा ने खोज कराई तो मालूम हुआ कि वह मुनि रानी

संसारावस्था के भाई ही थे। यह जानकर राजा को भी बहुत पश्चात्ताप हुआ।

रानी ने कहा—अब पश्चात्ताप करने से मुनि फिर जीवित होने के नहीं। अतएव पश्चात्ताप करना छोड़ो और इन मुनि के मार्ग का अनुकरण करो। इसी में अपना कल्याण है। आखिर राजा-रानी दोनों ने संयममार्ग ग्रहण करके आत्मकल्याण किया।

कहने का आशय यह है कि मुनि के मन में जो क्षमा होती है, उसका प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है। राजा कितना कठोरहृदय था कि मुनि का किसी प्रकार का अपराध न होने पर भी उसने मुनि के शरीर की चमड़ी उधेड़ लेने की आज्ञा दे दी। परन्तु मुनि की अनुपम क्षमा का वृत्तान्त सुनकर उस कठोरहृदय राजा का हृदय भी परिवर्तित हो गया। इस प्रकार खंधक मुनि ने क्षमा का आदर्श उपस्थित करके स्व-पर-कल्याण साधन किया। इस प्रकार की क्षमा धारण करने वाले ही वास्तव में महान हैं। क्षमा इस लोक का भी बल है और परलोक का भी बल है। संसार में उन्ही पुरुषों का जीवन धन्य बन जाता है. जो स्वयं क्षमाशील बन कर दूसरों को भी क्षमाशील बनाते हैं।

तुम क्षमाशील बनकर आत्मा का कल्याण साधो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

३ : विरल-विभूति

श्री एवन्ताकुमार

(१)

गौतम स्वामी नीची नजर किये हुए गज-गति से भिक्षा के लिए पधारे। जिनके सामने सर्वार्थसिद्ध विमान के अहमिन्द्र देव भी तुच्छ हैं, ऐसे सुन्दर गौतम स्वामी भिक्षा के लिये उसी ओर से निकले, जहाँ एवन्ताकुमार बालकों के साथ खेल रहे थे। वे खेल के स्थल के समीप होकर निकले। गौतम स्वामी पर एवन्ताकुमार की दृष्टि पड़ी। एवन्ताकुमार उन्हें देखकर सोचने लगा– इनका रूप कितना सुन्दर है ! इनमें कैसी ज्योति दैदीप्यमान हो रही है ! मुख पर कितनी उज्ज्वलता है ! मुख इतना सौम्य है कि मानो अमृत टपकता है। ऐसे तेजस्वी पुरुप को किस चीज की कमी है ?

इस प्रकार सोच-विचार के पश्चात् एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी से ही उनके घर-घर फिरने का कारण पूछना उचित समझा।

खेल छोड़ना बालकों को बड़ा अप्रिय मालूम होता है, फिर भी एवन्ताकुमार गौतम स्वामी की ओर इतना अधिक आकृष्ट हुआ कि उसने खेलना छोड़ दिया। खेल छोड़ने में गौतम स्वामी की महिमा कारण है या एवन्ताकुमार की महिमा कारण है, यह कौन जाने ? लेकिन एवन्ताकुमार ने खेलना छोड़ दिया।

गौतम स्वामी की अद्भुत तेजस्विता देखकर साधारण आदमी को कुछ पूछने में भी झिझक होती, मगर एवन्ताकुमार क्षत्रियपुत्र था। वह अपने मन में उठी हुई जिज्ञासा का निवारण करने के लिए किसी

से भयभीत होने वाला नहीं था और गौतम स्वामी में कैसा आकर्षण था कि उन्होंने एवन्ताकुमार को अपनी ओर उसी तरह खींच लिया, जिस तरह चुम्बक लोहे को खींच लेता है। बच्चे के लिए खेल उतना आकर्षक है जितना कृपण के लिए मूल्यवान खजाना भी शायद न हो। मगर गौतम स्वामी के आकर्षण से एवन्ताकुमार खिंच आये। वे अपने साथियों को खेलता छोड़कर गौतम स्वामी के पास आये और उनसे कहने लगे— भगवन्! आप कौन हैं? और किस प्रयोजन से इधर-उधर फिर रहे हैं?

एवन्ताकुमार का यह भावपूर्ण आर्द्र प्रश्न सुनकर गौतम स्वामी ने न मालूम किस दृष्टि से उसे देखा होगा!

एवन्ताकुमार के प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी कहने लगे— हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं। सचित्त, क्रीत, औद्देशिक और सदोष आहार नहीं लेते और हमें भिक्षा की आवश्यकता है, इसलिए हम भिक्षा की तलाश में घर-घर जाते हैं।

एवन्ताकुमार बोले—जिनका तेज इतना उग्र है, जिनके तेज के आगे देवों का भी तेज फीका पड़ जाता है, उन्हें भिक्षा मांगनी पड़ती है और वह भी घर-घर से! चलो भगवन्! मेरे घर चलो। मैं तुम्हें भिक्षा दूंगा।

इतना कहकर और उत्तर की प्रतीक्षा न करके एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी की उंगली पकड़ ली।

गौतम स्वामी को एवन्ताकुमार से अपनी उंगली छुड़ा लेनी चाहिए थी या नहीं? उंगली न छुड़ाने पर कदाचित श्रावक निन्दा करने लगते कि यह भी साधु की कोई रीति है? मगर वहाँ कौन किसके लिये एतराज करता? एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी की उंगली क्या पकड़ी, मानो कल्पवृक्ष में फल लग गया था। एवन्ताकुमार की वीरता, धीरता और होनहारता देखकर गौतम स्वामी भी उनसे उंगली न छुड़ा सके। कहावत है:—

होनहार बिरवान के होत चीकने पात ।

उस होनहार वालक से गौतम स्वामी अपना हाथ न छुड़ा सके । गौतम स्वामी की उंगली पकड़े एवन्ताकुमार उन्हें भिक्षा देने के लिए कहकर अपने घर ले गये । गौतम स्वामी वालक की भावुकता पर मुग्ध हो गये और उसकी अवज्ञा न कर सके । वे वालक के साथ-ही-साथ खिंचे चले गये ।

उधर श्रीदेवी एवन्ताकुमार की प्रतीक्षा में थी । सोच रही थी—वह कहाँ चला गया और अब तक भोजन करने भी नहीं आया । इसी समय गौतम स्वामी की उंगली पकड़े एवन्ताकुमार आता दिखाई दिया । श्रीदेव को अतिशय प्रसन्नता हुई ।

एवन्ताकुमार की माँ कहने लगी—लाल ! मैं तेरी राह देख रही थी कि तू आवे और भोजन करे । लेकिन तू पुण्य की निधि है, जो खेल छोड़कर इस जहाज को ले आया । नहीं तो यह जहाज कहाँ नसीब होता है !

गौतम स्वामी को देखकर श्रीदेवी को कितना हर्ष हुआ होगा, यह वताना वृहस्पति के लिए भी शायद सम्भव नहीं है । जब वृहस्पति की जिह्वा भी यह नहीं बता सकती, तो मैं क्या कह सकता हूँ ?

श्रीदेवी ने एवन्ताकुमार से कहा—वेटा ! यह जहाज यहाँ कब आता ? कौन जानता था कि यह भव-सागर का जहाज आज इधर आ जायगा ? तेरी ही बदौलत आज इस लोकोत्तर जहाज का आगमन हुआ है ।

माता की यह बातें सुनकर एवन्ताकुमार को इतनी अधिक प्रसन्नता हो रही थी, मानो किसी सेनापति ने किसी दुर्गम दुर्ग को जीत लिया हो । माता की प्रसन्नता देखकर उसे अपने कार्य का गौरव मालूम हुआ । वालक को उस समय अत्यन्त प्रसन्नता होती है, जब माँ उसके किसी कार्य से प्रसन्न होती है ।

एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी को तीन बार नमस्कार

उनसे प्रार्थना की—भगवन् ! यह आहार-पानी निर्दोष है, इसे ग्रहण कीजिए । वैसे तो वह राजा का घर था, परन्तु गौतम स्वामी को जितने आहार-पानी की आवश्यकता थी, उतना उन्होंने ले लिया आहार-पानी ग्रहण करने के पश्चात् जब गौतम स्वामी लौटने लगे तो एवन्ताकुमार ने उनसे पूछा—'प्रभो ! आप कहाँ रहते हैं ?'

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—'हे वालक, मैं भगवान महावीर स्वामी का शिष्य हूँ और उन्हीं के पास रहता हूँ । भगवान इस समय नगर के वाहर वगीचे में ठहरे हैं ।'

गौतम स्वामी ने यह नहीं कहा कि मैं वाग में ठहरा हूँ उन्होंने अपने को भगवान के पास रहने वाला प्रकट किया । इस प्रकार वे प्रत्येक कार्य में अपने गुरु को ही प्रधानता देते थे । गुरु को कभी भूलते नहीं थे । वास्तव में अपने गुरु को भूल जाने वाला शिष्य अभागा है ।

गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर एवन्ताकुमार उनसे कहने लगे—मैं जिन्हें देखकर आश्चर्य करता हूँ, वह भी शिष्य हैं ! उनके भी गुरु हैं ! शिष्य ऐसे हैं तो गुरु न जाने कैसे होंगे ? भगवन् मैं आपके साथ चलकर भगवान महावीर के दर्शन करना चाहता हूँ ।

एवन्ताकुमार की भावना में और उसके उत्साह में इतना वल था कि न तो गौतम स्वामी ही उसे मना कर सके, न उसकी माता श्रीदेवी को ही ऐसा करने का साहस हुआ । बल्कि श्रीदेवी को यह विचार कर वड़ी प्रसन्नता हुई कि वालक को गौतम स्वामी इतने प्रिय लगे ।

लारे लारे चाल्यो वालक भेट्यो भाग सुभाग ।
भगवंता री वाणी सुनने मन आयो वैराग्य ॥ रे एवन्ता० ॥

एवन्ताकुमार गौतम स्वामी के साथ-साथ भगवान महावीर के पास आये । भगवान को देखकर एवन्ताकुमार के हर्ष का पार न रहा । जैसे वहुत दिनों के प्यासे चातक को वर्षा की वूंद मिलने से आनन्द

होता है, बहुत दिनों से बिछुड़ी माता को पाकर बालक के हर्ष की सीमा नहीं रहती, चिरकाल तक परदेश में रहकर घर आने वाला घर पर नजर पड़ते ही प्रसन्न होता है, उसी प्रकार भगवान को देखकर एवन्ता-कुमार को असीम आनंद हुआ।

भगवान ने उपदेश की अमृत-धारा बरसाई, जिसे सुनकर एवन्ताकुमार की आत्मज्योति जगी। उसने भगवान से प्रार्थना की—'प्रभो ! मैं माता-पिता से आज्ञा लेकर आपके निकट दीक्षा लूंगा।' भगवान ने संक्षिप्त उत्तर दिया—'तुम्हें जिस तरह सुख हो, वैसा करो।'

एवन्ताकुमार लौटकर अपनी माता के पास आया। माता को प्रणाम किया। माता ने कहा—'बहुत देर लगाई बेटा ! आज तुम्हें भोजन करने की भी सुध न रही ! कब से मैं तुम्हारी राह देख रही हूँ।'

एवन्ताकुमार—माँ ! आज मैंने वह अमृत पिया कि बस, कह नहीं सकता। उसका वर्णन करना असम्भव है। मैं गौतम स्वामी के साथ भगवान महावीर के पास गया था। वहाँ जाकर भगवान की वाणी सुनी। अत्यन्त आनन्द हुआ। अब तुम मुझे आज्ञा दे दो तो मैं भगवान के निकट दीक्षा ले लूँ।

तू कांई जाणै साधपणा में बाल अवस्था थारी।
उत्तर दीधो ऐसो कुंवरजी मात कहे बलिहारी॥ रे एवन्ता०॥

दीक्षा की बात सुनकर औरों की माता तो मोह-ममता के आवेग में रोई होगी, पर एवन्ता की माता को हँसी आ गई। वह कहने लगी—'लाल ! दीक्षा कोई खेल थोड़े ही है ! तू क्या जाने संयम क्या है और संयम का मार्ग कितना कठोर है ! अभी तेरा खेल-कूद नहीं छूटा, दूध के दाँत भी नहीं गिरे हैं। फिर भी तू संयम लेने की बात कहकर मुझे आश्चर्य में डालता है।'

माता की इस बात के उत्तर में एवन्ताकुमार ने कहा—माता ! मैं जिसे जानता हूँ उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता उसे जानता हूँ।

यों एवन्ताकुमार का यह उत्तर आश्चर्य में डालने वाला है, लेकिन यही तो स्याद्वाद है। विसंगत प्रतीत होने वाले कथन को संगत बनाना स्याद्वाद का प्रयोजन है। एवन्ताकुमार के इस उत्तर में सभी तत्त्व आ गया है।

एवन्ताकुमार की माता ने यह टढ़ा-मेढ़ा-सा उत्तर सुनकर पूछा—'ऐसी क्या बात है जिसे जानता हुआ भी नहीं जानता और नहीं जानता भी जानता है ?'

कुमार ने कहा—'माता लोगों की आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ है। मेरी आँखों पर भी पड़ा हुआ था, मगर आज भगवान की कृपा से उठ गया। अब मुझे प्रकाश दिखाई दे रहा है। माँ! यह कौन नहीं जानता कि संसार में जितने भी जीव जन्मे हैं, वे सब मरेंगे ? यह बात सभी जानते हैं और मैं भी जानता हूँ कि जो जन्मा है, वह मरेगा। जिसका उदय हुआ है वह अस्त भी होगा, जो फूला है वह कुम्हलाएगा ही। मैं यह जानता हूँ, मगर यह नहीं जानता कि यह किस घड़ी और किस पल में होगा! इसी को कहते हैं—जानते हुए भी न जानना।'

इस कथन में बड़ा रहस्य भरा हुआ है। उपनिषद् में कहा है—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।

सोने के ढक्कन से जिस सत्य का मुँह ढंका हुआ है, एवन्ताकुमार उस सत्य का मुँह खोल रहा है! आप यह तो जानते हैं कि मरना है, मगर यह नहीं जानते कि कब मरना है ? फिर मरण को क्यों भूले हुए हैं ? अगर भूले नहीं हो तो ढील क्यों कर रहे हो ? याद रखकर आत्मा का कल्याण क्यों नहीं करते ? संसार के लोग यह झूठ ही कहते हैं कि हमें मरने का ज्ञान है। जिसे मृत्यु का स्मरण हो, वह बुरे काम क्यों करेगा ? वह अन्याय, अत्याचार और पाप कैसे कर सकता है ? लोग यह सब करते हैं, इससे जान पड़ता है कि वे मरना नहीं जानते। महाराज चतुरसिंहजी ने एक पद

हा है:—

या मनखाँ मोटी बात मरणो जाणणो ।
मरणो मरणो सारा केवे, मरे सभी नर-नारी रे ।
मरवा पेली जो मरजावे तो बलिहारी रे ॥ मरणो० ॥
जीवा सूं सगलो जग राजी मरणो कोइय न चावे रे ।
राजा रंक सभी ने सरखो तो पण आवे रे ॥ मरणो० ॥
दूजा भूप डरप ने म्लेच्छां कीदी ताबेदारी रे ।
वीर प्रताप जाण ने मरणो टेक न हारी रे ॥ मरणो० ॥
मरवा ने वनवीर विसरियो धाप याद कर लीनो रे ।
चूं खाया रे साटे जाग्रो जातो कीनो रे ॥ मरणो० ॥
गुरु गोविन्द रो ब्राह्मण भूल्यो बालक दोय चिणाया रे ।
भामासाह धन्या ने धन दे पाछा लाया रे ॥ मरणो० ॥
मरवा ने जो जाणैं वीसूं पार कर्म नहीं होवे रे ।
सुख दुःख री परवा नहीं राखे प्रभु ने सवे रे ॥ मरणो० ॥
मरने ज्वाव राम ने देणा या जीरे मन लागी रे ।
चतुर चरण वाणी रा सेवे वो बड़भागी रे ॥ मरणो० ॥

सच है, जो मरना जानते होंगे, वह बुरे काम कदापि नहीं करेंगे। इस जगह बुरे काम का मतलब दारू पीना, मांस खाना, पर-स्त्रीगमन करना, जुआ खेलना, चोरी करना और विश्वासघात करना आदि समझना चाहिए। मृत्यु को जानने वाला कम-से-कम इन पापों से अवश्य बचेगा।

कई लोगों में कुलपरम्परा से दारू, मांस का अटकाव होता है। उनके यहाँ इन घृणित चीजों का व्यवहार करने वाला जाति से वाहर कर दिया जाता है। अगर जाति के बड़े-बड़े समझे जाने वाले लोग ही इनका सेवन करने लगें, तो बेचारे छोटे क्या कर सकते हैं ? उन छोटों की जवान वन्द कर दी जाती है। क्या ऐसे बड़े-बड़े मरना जानते हैं ? मरना जानते होते तो यह पाप क्यों

करते ? शराब पीना तो मुसलमानों में भी हराम है। कुरान कं आज्ञा का पालन करने वाले मुसलमान उस जमीन को भी खो फैंकते हैं, जहाँ शराब का छींटा गिर पड़ा हो। लेकिन उनमें भं जो लोग मरना भूले हैं, वे शराब पीते हैं।

शराब को बहुतेरे लोग 'लाल शर्बत' कहकर पी जाते हैं। मग नाम बदल देने से वस्तु नहीं बदल जाती।

आज-कल मांसभक्षण का और उसमें भी अंडा खाने व प्रचार बढ़ता चला जाता है। यहाँ तक कि हिन्दू समाज के नेत समझे जाने वाले कतिपय लोग हिन्दुओं को मांसभक्षण करने व खुला उपदेश देने में संकोच नहीं करते। बहुत से लोग अंडे को मांस के अन्तर्गत ही नहीं समझते। मैंने कहीं पढ़ा था कि गांधीजी ने जब विलायत जाने का निश्चय किया, तब उनकी माता ने उन्हें बहुत रोका। गांधीजी की माता के संस्कार उत्तम थे। वह साधुमार्गी जैन मुनियों के सम्पर्क में थीं। उन्होंने गांधीजी से कहा—'विलायत जाने वाले वहां भ्रष्ट हो जाते हैं, इसलिए मैं तुझे नहीं जाने दूँगी।' जब गांधीजी ने बहुत कुछ कहा-सुना तो उनकी माता एक शर्त पर उन्हें जाने देने के लिए सहमत हुई। माता ने कहा—अगर तुम मेरे गुरु के पास चलकर मदिरा, मांस और परस्त्री का त्याग कर दो तो मैं जाने दे सकती हूँ, अन्यथा नहीं।

विलायत में परस्त्रीसेवन ऐसी साधारण बात है कि मानो पा में उसकी गिनती ही नहीं है। सुनते हैं, अमेरिका में ९५ प्रतिश तलाक होते हैं और विवाहों की अपेक्षा तलाकों की संख्या बढ़ने कं तैयारी है। फ्रांस में इतना व्यभिचार है कि घर वाला पुरुष अपन घर में किसी दूसरे पुरुष को आया जानता है तो वह बाहर से ही लौट जाता है। वह घर में प्रवेश नहीं कर सकता! मित्रो! भारतवर्ष इस दिशा में अब भी अत्यन्त सौभाग्यशाली है। भारतीयं में इस दृष्टि से काफी मनुष्यता मौजूद है। यहाँ पशुता का यह नग्न

ताण्डव नहीं है। भारतीय लोग इस प्रकार के दुराचार को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

आखिरकार गांधीजी अपनी माता के गुरु के निकट प्रतिज्ञाबद्ध होकर विलायत गये। वहाँ जब वह बीमार हो गये, तो डाक्टरों ने दारू पीने की सलाह दी। गांधीजी ने कहा—मैं दारू पीने का त्याग कर चुका हूँ।

डाक्टरों ने कहा—अच्छा, अंडा खाने में तो कुछ हर्ज नहीं है? उन्होंने युक्तियों से साबित करने की चेष्टा की कि अंडा, मांस में सम्मिलित नहीं है। मगर गांधीजी कोई सामान्य पुरुष नहीं थे। उन्होंने कहा—अंडा, मांस में शामिल हो अथवा न हो, मगर मेरी माता उसे मांस में ही गिनती हैं और मैंने अपनी माता की समझ के अनुसार ही प्रतिज्ञा ग्रहण की है। ऐसी हालत में मैं आपकी बात न मानकर अपनी माता की बात मानना उचित समझता हूँ। मैं किसी भी दशा में अंडा नहीं खा सकता।

गांधीजी अपनी बात पर डटे रहे। बीमारी की हालत में, डाक्टरों का आग्रह अस्वीकार कर के भी उन्होंने अंडा नहीं खाया। गांधीजी ने बीमारी में कष्ट पाना मंजूर किया, पर धर्म से डिगना स्वीकार नहीं किया। कष्ट पाये बिना धर्म का पालन होता भी तो नहीं है! गांधीजी ने प्रतिज्ञा न की होती और प्रतिज्ञा पर अचल न रहे होते तो कौन कह सकता है कि आज वह "महात्मा गांधी" कहलाने के अधिकारी होते या नहीं? जिस मनुष्य में उच्च चारित्र का अभाव है वह भी कोई मनुष्य है?

अंडा और मछली का तेल (कॉड लीवर ऑयल) जैसे घृणित पदार्थों ने धर्म के संस्कार नष्ट कर दिये हैं।

इन सब पापमय वस्तुओं का सेवन लोग किसलिए करते हैं? दीर्घ जीवन के लिए! बहुत समय तक मृत्यु से बचे रहने के लिए इन वस्तुओं का व्यवहार किया जाता है, मगर दुनिया कितनी

अंधी है कि आँखों दिखाई देने वाले फल को भी वह नहीं देखती। ज्यों-ज्यों इनका प्रचार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों रोग बढ़ते जा रहे हैं, नई-नई आश्चर्यजनक बीमारियाँ डाकिनों की तरह पैदा हो रही हैं, उम्र का औसत घटता जा रहा है, शरीर की निर्बलता बढ़ती जाती है, इन्द्रियों की शक्ति दिनों-दिन क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है, देखते-देखते चटपट मौत आ घेरती है, फिर भी अंधी दुनिया को होश नहीं आता ! क्या प्राचीन काल में ऐसा था ? नहीं। तो फिर 'पूर्व' की ओर—उदय की दिशा में—प्रकाश के सम्मुख न जाकर लोग 'पश्चिम' की तरफ—अस्त की ओर, मृत्यु के मुँह की सीध में—क्यों जा रहे हैं ? जीवन की लालसा से प्रेरित होकर मौत का आलिंगन करने को क्यों उद्यत हो रहे हैं ? मित्रो ! आंखें खोलो, फिर आप ही सब कुछ समझ जाओगे।

परस्त्री तो सब के लिए माता के समान होनी चाहिए। भूधर कवि कहते हैं:—

पर-ती लखि जे धरती निरखें,
धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते।

जहाँ पाल बंधी नहीं होती वहाँ पानी नहीं रुकता और जहाँ पानी नहीं रुकता, वहाँ अच्छी खेती नहीं हो सकती। मैंने ज्ञानियों के वचन आपको सुनाकर उपदेश की वर्षा की है, पर पाल के अभाव में यह उपदेश भी कल्याणकारी नहीं हो सकेगा। अतएव पाल बंध जानी चाहिए, जिससे उपदेश का पानी ठहर सके और आपका कल्याण हो। आजकल जैसी-तैसी कमाने-खाने के योग्य व्यवहारिक शिक्षा तो दी जाती है मगर धर्म की वर्षा तभी ठहर सकती है, जब धार्मिक शिक्षा दी जाय। हमारे उपदेश का पानी रोकने की पाल धर्म की शिक्षा है। अतएव बालकों को उस धर्म की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, जिसमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश हो। विनीत पुत्र तो सभी माँ-बाप चाहते हैं, परन्तु शिक्षा ऐसी देते-दिलवाते हैं, जिसमें धर्म

को स्थान नहीं होता। ऐसी अवस्था में बालक विनीत हों कैसे? माँ-बाप नहीं समझते कि माँ-बाप किस प्रकार बनना चाहिए? वे अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ हैं। इस स्थिति में सन्तान खराब होती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

नागिन और बिलाव के विषय में प्रसिद्ध है कि वह अपने बच्चों को खा जाती है। जिसके माँ-बाप नागिन और बिलाव के समान हैं, वह बालक सुख कैसे पा सकते हैं? इसी प्रकार जो माता-पिता अपने बालक को धर्म की शिक्षा ही नहीं देंगे, तो उनका बालक विनीत किस प्रकार बन सकेगा?

एवन्ताकुमार को अल्प-आयु में भी धर्म की शिक्षा मिली थी। इसी से वह कह रहा है कि— 'माता! मैं यह तो जानता हूँ कि मरना आएगा, लेकिन यह नहीं जानता कि कब आएगा। इसी प्रकार मैं यह तो जानता हूँ कि स्वर्ग, नरक आदि कर्म से ही मिलते हैं, किन्तु यह नहीं जानता कि किस क्षण के कर्म से स्वर्ग और किस क्षण के कर्म से नरक मिलता है? हे माँ! तू मुझे छोटा कहती है, लेकिन क्या छोटे नहीं मरते? अगर छोटी आयु में भी मृत्यु आ जाती है, तो संसार में रहना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है?'

माता ने समझ लिया कि बालक को तत्त्वज्ञान हो गया है, इसलिए अब गृहस्थी में नहीं रहेगा। जिसकी आत्मा में ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है, जो जगत के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, उसे संसार असार प्रतीत होने लगता है। संसार की समस्त सम्पदा और विनोद एवं विलास की विविध सामग्री, उसका चित्त अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकतीं। संसारी लोगों द्वारा कल्पित वस्तुओं का मूल्य और महत्व उसके लिए उपहास का पात्र है। वह बहुमूल्य हीरे को पाषाण के रूप में देखता है। भोग को रोग मानता है। उसे [illegible] पदार्थ अपने असली रूप में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। [illegible] पुरुषों को वासनाओं के बन्धन में बँधे हुए साधारण मनुष्यों

पर तरस आता है। उनका हृदय बोल उठता है:—

दारा परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा॥

अर्थात्—पत्नी पराभव का कारण है, बांधवजन बन्धन हैं, विषयभोग विष हैं। फिर इस संसारी जीव का मोह न जाने कैसा है कि यह शत्रुओं को मित्र समझ रहा है!

तत्त्वज्ञानी पुरुष विषयभोग से इसी प्रकार दूर भागते हैं, जैसे साधारण मनुष्य काले नाग को देखकर। काले नाग को अपने निकट आते देखकर कौन स्थिर रह सकता है? इस प्रकार विवेकपूर्ण वैराग्य की स्थिति में किसी को समझा-बुझाकर संसार में नहीं फँसाया जा सकता। एवन्ताकुमार की माता इस तथ्य को समझती थी। उसे विश्वास हो गया कि बालक अब गृह-संसार में नहीं रह सकता। एवन्ताकुमार की माता ने कहा—'तुम्हारी यही इच्छा है तो कोई बात नहीं, मगर एक बात कहती हूँ। तुम चाहे एक दिन ही राज्य करना, मगर एक बार राज्य ग्रहण कर लो। फिर जैसी इच्छा हो, करना।'

माता के इस अनुरोध को अस्वीकार करना एवन्ताकुमार ने उचित नहीं समझा। वह मौन रहे और "मौनं स्वीकृतिलक्षणम्" मानकर उनके माता-पिता ने राज्याभिषेक की तैयारी आरम्भ कर दी।

दूसरे दिन एवन्ताकुमार राजसिंहासन पर विराजमान हुए और राजा बन गये। राजा बन जाने के बाद उनके माता-पिता ने कहा—'पुत्र, देखो, राजपाट में यह आनन्द है। इस आनन्द को छोड़कर घर-घर भीख माँगना क्या अच्छा है?'

एवन्ताकुमार की आत्मा में अद्भुत प्रकाश जगमगा उठा था। उसकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल और विचारशक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी। उसने माता-पिता से कहा—'आपने मुझे यह पद प्रदान किया है, मगर क्या मुनिपद इससे छोटा है? नहीं, तो उसे छुड़ाने के लिए इस पद का प्रलोभन किसलिए दे रहे हैं? हाथ जोड़ेगा तो राजा ही मुनि

के समक्ष हाथ जोड़ेगा। मुनि किसी राजाधिराज को भी हाथ नहीं जोड़ता। चक्रवर्ती भी मुनियों के चरणों में मस्तक रगड़ता है।'

एवन्ताकुमार की असाधारण प्रतिभा और अपूर्व भावना देख माता-पिता दंग रह गये। उन्होंने दीक्षा देने के लिए उसे भगवान महावीर को सौंप दिया।

इस प्रकार की असाधारण विभूतियाँ संसार में कदाचित ही जन्म लेती हैं, इन्हें अपवाद-पुरुष कहा जा सकता है। जन्मान्तर के अतिशय उग्र संस्कारों के बिना कोमल वय में इस प्रकार के व्यक्तित्व का परिपाक नहीं होता।

श्री ध्रुवकुमार

(२)

राजा उत्तानपाद की दो रानियां थीं। बड़ी रानी धर्मपरायणा और तत्त्व को जानने वाली थी। छोटी रानी संसार के सुखों में मस्त रहती थी। बड़ी रानी सरल स्वभाव की भोली स्त्री थी, इसलिए राजा ने उसे अनमानती कर दी। इसका एक पुत्र था, जिसका नाम ध्रुव था। राजा ने बड़ी रानी को एक अलग मकान दे दिया था और नियत परिमाण में उसे भोजन आदि आवश्यक वस्तुएँ देने की आज्ञा दे दी थी। छोटी रानी उसके प्रति द्वेष रखती और अपने दास-दासियों द्वारा इस बात की निगरानी रखती कि बड़ी रानी को कोई चीज नियत मात्रा से अधिक तो नहीं दे दी जाती।

बड़ी रानी इस व्यवहार को बड़ी ही शान्ति के साथ सहन करती थी। वह अपनी मौजूदा परिस्थिति में सन्तुष्ट थी। अगर कोई कभी उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए राजा के अन्याय व्यवहार की चर्चा करता, तो रानी कहती—'मेरे पति का मुझ पर बड़ा अनुग्रह है, जो उन्होंने धर्ममय जीवन बिताने और मोह मिटाने के लिए यह समय दिया। वह अपने अपमान का विचार करके दुःख का अनुभव नहीं करती

थी। वह मस्त रहती।

मनाने वाला हो तो मन क्या नहीं मान लेता ? वह सभी कुछ समझ लेता है, समझाने वाला चाहिए। विवेक से कार्य करने वालों के लिए मन अबोध शिशु के समान है।

एक दिन राजा उत्तानपाद छोटी रानी के महल में बैठा था और उसके लड़के को गोद में लिये था। खेलते-खेलते ध्रुव अचानक वहाँ जा पहुँचा। उसनें पिता की एक तरफ की गोद खाली देखी और वह उसमें बैठ गया। सौत के लड़के को अपने लड़के की बराबरी पर बैठा देख रानी की ईर्षा की अग्नि भड़क उठी। उसने ध्रुव को राजा की गोद से हटा दिया और कहा—'इस गोद में बैठना था तो मेरे पेट से जन्म लेना था।'

रानी के इस निर्दय व्यवहार से बालक ध्रुव को बहुत दुःख हुआ वह रोता-रोता अपनी माँ के पास पहुँचा। उसने सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—'माँ, तुम्हारे पेट से जन्म लेने के कारण क्या मैं पिता की गोद में बैठने योग्य न रहा ?' पुत्र की यह बात सुनकर सहनशीला और धैर्यधारिणी रानी को भी कितना दुःख हुआ होगा ? मगर उसने अपना दुःख प्रकट नहीं किया। उसने बालक से कहा—'बेटा ! मुझसे पूछे विना तू पिताजी की गोदी में बैठने गया ही क्यों ? अपन ईश्वर की गोद में बैठे हैं, फिर किसी और की गोद में बैठने की आवश्यकता ही क्या है ? तप करके उसे ईश्वर के प्रति अर्पित कर देने से वह पद मिलता है—वह सर्वश्रेष्ठ गोदी प्राप्त होती है कि उसके आगे राज्य आदि सभी कुछ तुच्छ हैं।'

आज यह उदात्त शिक्षा कहाँ ? जिस माता की भावना इतनी उन्नत होगी, उसका बालक भी ध्रुव सरीखा हो सकता है। मगर कहाँ हैं ऐसी देवियाँ जो अपने बालक को मनुष्य के रूप में देव—दिव्य विचार वाला, दिव्य शक्तिशाली–बना सकें ? महिलावर्ग की स्थिति अत्यन्त विचारणीय है। जब तक महिलाओं का सुधार नहीं होगा तब

क किसी भी प्रकार का सुधार ठीक तरह नहीं हो सकता। आखिर
ो मनुष्य के जीवन का निर्माण बहुत कुछ माता के हाथ में ही है।
ाता ही बालक की आद्य और प्रधान शिक्षिका है। माता बालक के
ारीर की ही जननी नहीं, वरन् बालक के संस्कारों की और व्यक्तित्व
की भी जननी है, अतएव बालकों के सुधार के लिए पहले माताओं
के सुधार की आवश्यकता है।

आजकल न तो माताएँ ही बालक को योग्य धार्मिक शिक्षा
दे सकती हैं और न सरकारी स्कूलों में ही ऐसी शिक्षा मिलती है।
सच्ची शिक्षा वह है जिसे प्राप्तकर व्यक्ति धर्मनिष्ठ बने और राजा
से लेकर रंक तक, मनुष्य से लेकर क्षुद्र कीट-पतंग तक—प्राणी मात्र
की सेवा करने की लगन उत्पन्न हो जाय।

राजा उत्तानपाद की रानी धर्म न जानती होती तो पति और
सौत के निष्ठुर व्यवहार से दुःखित होकर रोने लगती अथवा ईर्षा की
आग से तपकर उनसे बदला लेने पर उतारू हो जाती। मगर उसने
ऐसा नहीं किया। उसने सोचा—'रोने से क्या लाभ है? बदला लेने
की कोशिश करने से मैं भी उन्हीं की कोटि में चली जाऊँगी। मगर
मैं अपना तेज क्यों घटाऊँ?'

माता की बात सुनकर ध्रुव ने कहा—'तू मेरी माता क्या है,
मुझे शक्ति देने वाली देवी है। अब मैं तप करके परमात्मा की गोद
में ही बैठूँगा। अतएव मुझे आज्ञा दो, मैं तप करने जाऊँ।' यह कह-
कर बालक ध्रुव तप करने चला गया। उसकी माता इससे घबराई नहीं।

ध्रुव जा रहा था कि मार्ग में नारद मिले। नारद कहने
लगे—'अभी तू छोटा बालक है। तुझे क्या पता—वैराग्य किस चिड़िया
का नाम है? फिर तप करने के लिए वन में क्यों जा रहा है?
बच्चे! तेरी कोमल उम्र है। तुझसे तप न होगा। घर लौट जा।'

ध्रुव ने उत्तर दिया—आपसे मुझे बड़ी आशा थी, मगर आप
मुझे निराश कर रहे हैं। आप उलटी गंगा बहा रहे हैं! आप आज

से पहले मेरे पास नहीं आये थे, आज क्यों आये हैं ? यह तप की ह
शक्ति है कि नारदजी जैसे ऋषि भी आकर्षित हो सके हैं।

निंदित कर्म जे आदरै, तब बरजत संसार।
तुम बरजत सुकृत करत, यह न नीति व्यवहार॥

हे ऋषि ! कोई अच्छे काम न करता हो तो उसे अच्छे काम की ओर प्रेरित करना आपका काम है। मगर आप तो अच्छे काम से रोक रहे हैं।

नारदजी बोले—नहीं, मेरी ऐसी इच्छा नहीं है। मैं किसी को सत्कार्य से रोकना नहीं चाहता।

ध्रुव—मैं तप करने जा रहा हूँ तब तो आप रोक रहे हैं, अगर मैं राज्य करता होता तो न रोकते। आपके लिए क्या यही उचित है ? मैं क्षत्रियपुत्र हूँ, वीर हूँ। मेरी माता ने मुझे तप करने की शिक्षा दी है। मैं तप करने की प्रतिज्ञा करके घर से निकला हूँ। आप मुझ सिंह-बालक को सियार-बालक न बनाइए।

जब देख्यौ बालक सुदृढ़, अरु अखंड विश्वास।
नारद परम प्रसन्न ह्वै, साधु साधु कहि तास॥

नारद कहने लगे—तेरी परीक्षा हुई और मेरा अभिमान गया आज मुझे मालूम हुआ कि जितनी सच्ची परमात्म-प्रीति एक बालक हो सकती है, मुझमें उतनी भी नहीं है।

भागवत की यह कथा है। एक कथा मदालसा की भी है, जिसने आठ-आठ वर्ष की उम्र में ही अपने बालकों को संन्यास लेने दिया था।

एवन्ता मुनि ने भी बाल्यकाल में दीक्षा ले ली। उन्होंने में नाव भी तैराई, जिससे मुनियों के मन में सन्देह हुआ कि यह व साधुपन पाल सकेगा ? ज्यों ही मुनियों ने उनसे कहा कि साधु को पानी में नाव तैराना नहीं कल्पता, त्यों ही उन्होंने धीरे से अपना पात्र पानी से निकाल लिया।

मुनियों ने भगवान से पूछा—प्रभो ! एवन्ता मुनि कितने भव और धारण करेगा ?

भगवान ने मुनियों से कहा—'इनकी निन्दा-अवहेलना मत करो। यह चरमशरीरी जीव हैं। इसी भव से मुक्ति प्राप्त करेंगे।'

अन्त में एवन्ता मुनि ने सकल कर्मों का क्षय किया। वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

मित्रो ! तप में अपूर्व, अद्‌भुत और आश्चर्यजनक शक्ति है। तपस्या की अग्नि में आत्मा के समस्त विकार भस्म हो जाते हैं और आत्मा सुवर्ण की तरह प्रकाशमान हो उठता है। एवन्ताकुमार जैसे महापुरुष भले ही अपवाद रूप हीं हों और वर्तमान काल में उनके अनुकरण की शक्यता न हो, तो भी उनका आदर्श अपने समक्ष रखोगे और तप की महिमा समझोगे तो कल्याण होगा।

४ : विषधर-वशीकरण

चण्डकौशिक सर्प

जिस चण्डकौशिक साँप के कारण जगत में त्राहि-त्राहि की करुण ध्वनि सुन पड़ती थी, जिसके भय से उसके आसपास का रास्ता बंद था और जिसकी दृष्टि में ही घोर विष भरा हुआ था, उसके सामने जाकर भगवान महावीर ने कायोत्सर्ग किया था। उन्होंने अपने ज्ञान में देखकर सोचा—'व्यर्थ ही लोग उस साँप से डरते हैं। वह साँप तो व्युत्सर्ग सिखाता है।' ऐसा विचार कर भगवान उसकी ओर चल दिये। कोई अनजान में उस मार्ग से न चला जाय, इस प्रयोजन के लिए दयालु लोगों ने कुछ आदमी नियुक्त कर दिये थे। वे उधर जाने वालों को इसलिए रोक देते थे कि उस साँप के विष से बचना कठिन था।

जब भगवान उस मार्ग से जाने लगे तो उन्होंने कहा—'इस मार्ग से न जाइए। इधर ऐसा भयानक साँप रहता है कि उसकी दृष्टि पड़ते ही विष चढ़ जाता है।'

प्रभु उनकी बात सुनकर मुस्करा दिये। उन्होंने सोचा—ये लोग जैसा जानते हैं, कहते हैं। इन्हें साँप का ही विष दिखता है, अपने अन्तःकरण का विष दिखाई नहीं देता। लोग साँप से भयभीत होकर उसे मारने दौड़ते हैं, यह नहीं देखते कि हम में कितना भयंकर विष है। मैं व्युत्सर्ग द्वारा जगत को दिखला दूँगा कि विष साँप में ही नहीं है, तुम में भी है। इसी कारण साँप का विष तुम पर असर करता है।

यह सोचकर भगवान आगे बढ़े। रखवाले फिर कहने लगे—'आप कहाँ जा रहे हैं? इधर का रास्ता साँप के कारण बंद है। अगर

आप नहीं मानेंगे तो जीवित नहीं बचेंगे।'

उनकी बात सुनकर भगवान के सौम्य मुख पर फिर सहज स्मित की रेखाएँ खिच गईं। तब रखवालों ने कहा—'हँसते क्यों हैं ? अभी आपको हमारी बात पर विश्वास नहीं होता। साँप सामने आएगा तब पता चलेगा ! किसी मूर्ख ने भरमाकर आपको यहाँ भेजा होगा, लेकिन हम कहते हैं—लौट जाइए। आगे मत जाइए।'

भगवान विचारने लगे—'यह लोग भी भ्रम को बुरा समझते हैं, लेकिन यह नहीं जानते कि भ्रम क्या है ?' यह सोचते हुए और मुस्कराते हुए भगवान और आगे बढ़े।

यह देखकर रास्ते के रखवालों को गुस्सा आ गया। एक ने कहा—क्या सुनते नहीं हो ! क्यों हमें बदनाम करना चाहते हो ? लोग कहेंगे—हमने रोका नहीं, इसलिए गये और मारे गये।

दूसरे ने कहा—नहीं मानता तो जाने दो, मरने दो। जिसकी मौत आ गई हो उसे कौन रोक सकता है ?

तीसरे ने कहा—यह न जाने कौन हैं ? इनकी आँखें तो देखो, कैसी हैं ! हम लोग इतना कह रहे हैं, फिर भी मुस्करा रहे हैं। इनकी आँखों में क्रोध तो है ही नहीं। इन्हें नमस्कार कर लें और जाते ही हैं तो जाने दें।

क्रोध और प्रेम आँखों से स्पष्ट मालूम हो जाता है। आँखें तो क्रोध के समय भी वही और प्रेम के समय भी वही रहती हैं, मगर दोनों में कितना अन्तर हो जाता है ! आँखें तेज से बनी हैं। आँखों का पूरा वर्णन सुनकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि आँखें क्या हैं ?

तीसरा आदमी कहता है— इनकी आँखों से प्रकट है कि यह कोई शक्तिसम्पन्न महात्मा हैं। यह कोई महान् विभूति हैं। हम लोग सारा वृत्तान्त उन्हें बता दें और फिर वह जाना चाहें तो भले ही जाएँ। इन्हें किसी तरह का अपशब्द मत कहना।

चौथे ने भड़ककर कहा—वाह ! खूब कही ! जाने दिया और साँप के काटने से मर गया तो वदनामी किसकी होगी ?

तीसरे ने शान्त भाव से कहा—इनसे हठ करना ठीक नहीं है। हमने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है। अब हठ करना हानिकर होगा।

यह लोग आपस में वात कह रहे थे कि भगवान कुछ और आगे बढ़े। रखवाले भी कुतूहलवश भगवान के पीछे हो लिये। उन्होंने सोचा—देखें यह क्या करते हैं ? भगवान स्थिर गति से चलते-चलते साँप की वांवी पर आयें। रखवाले सोचने लगे—हम लोग समझते थे, यह भूल से इधर आ गये हैं, मगर जान पड़ता है, यह तो यहाँ के लिये ही आये हैं।

तीसरा आदमी कहने लगा—मैं तो इनकी प्रेमपूर्ण परन्तु तेजस्वी आँखें देखकर ही समझ गया था। आँखें विना वताये ही वता देती हैं कि यह किस श्रेणी का पुरुष है ! हृदय का भाव आँखों में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इनकी आँखें देखकर ही मैं समझ गया था कि यह कोई महान् पुरुष हैं।

भगवान वांबी के मुँह पर ध्यान करके खड़े हो गये। साँप को जैसे ही किसी का आना मालूम हुआ कि वह क्रोध से उन्मत्त होकर वाहर निकला। वह भगवान की ओर बार-वार देखकर दृष्टि से विष छोड़ने लगा। मगर भगवान का कुछ भी न विगड़ा। वह ज्यों-के-त्यों अचल खड़े रहे। ध्यान पूरा होने पर भगवान की और उसकी आँखें मिलीं। भगवान की अमृत दृष्टि और चंडकौशिक की विष दृष्टि आपस में टकराई। वह सम्पूर्ण क्रोध के साथ अपनी आँखों से विष फैंकने लगा, मगर भगवान पर जरा भी असर न हुआ।

भगवान की दृष्टि में विष का लेश मात्र भी होता तो चंडकौशिक का विप भगवान पर असर कर जाता। मगर भगवान विष से सर्वथा विनिर्मुक्त थे। अतएव सर्प का विप प्रभावहीन हो गया। वास्तव में हमारी दृष्टि में भी विप है और हमारी दृष्टि के विप से ही दूसरों का

विप हम पर असर करता है।

चंडकौशिक सोचने लगा—आज तक कहीं मेरी दृष्टि नहीं रुकी। कभी मेरी शक्ति निष्फल नहीं हुई। मगर यह कौन जबर्दस्त आदमी है कि इस पर मेरी शक्ति व्यर्थ हो रही है। आज तक तो कोई मेरे सामने नहीं ठहर सका। जो आया वह यमपुर पहुँचा। लेकिन यह आदमी बड़ा ही विलक्षण है। न बोलता है, न टलता है। ऐसा सोचकर उसने भगवान के उस अंगूठे पर डंक मारा, जिस अंगूठे से बचपन में—जन्म के कुछ ही समय बाद सुमेरु काँप उठा था। आज उसमें कितनी शक्ति होगी, यह अनुमान करना ही कठिन है। लेकिन आज तो भगवान में और ही प्रकार का बल है।

चंडकौशिक ने भगवान को काटा, तब भगवान सोचने लगे—व्युत्सर्ग का फल तो चंडकौशिक ही बतलाता है। व्युत्सर्ग का मतलब शरीर का दान करना है। शरीर का इस प्रकार उत्सर्ग कर देना कि चाहे कोई उसे ले जाय, कोई उसे खा जाय या कोई भी उसे नष्ट कर दे, ऐसा विचार करके शरीर का उत्सर्ग कर देना, यही व्युत्सर्ग है। जिसमें पूर्ण व्युत्सर्ग होगा, वही इतनी ऊँची भावना रखेगा।

चंडकौशिक ने जब भगवान को काट लिया तो भगवान के अंगूठे से खून निकला। पर वह दूध सरीखा था। चंडकौशिक को वह अमृत की तरह मीठा लगा। वह सोचने लगा— मैंने बहुत बार खून का आस्वादन किया है, मगर यह खून तो कुछ और ही है।

भगवान ने उसके सामने शरीर रखकर कहा—ले, मेरा शरीर ले। अब तू वैर मत रख, और किसी को दुःख देकर स्वयं दुःखी मत हो। अगर तुझे अपनी शक्ति आजमानी है और दुःख ही देना है तो ले, यह शरीर तेरे सामने है। शक्ति आजमा ले, दुःख दे ले। इस प्रकार भगवान ने जैसे जगत् का दुःख मिटाने के लिए ही अपना उत्सर्ग किया था। सिद्धान्त में कहा है—

सेयज्जए से कमले महेसी।

भगवान पराये दुःख को जानने वाले और उस दुःख की जड़ मिटाने वाले थे।

शुक्ल लेश्या के पुद्गल कैसे मीठे होते हैं, यह बात पन्नवणा सूत्र में बतलाई है। भगवान महावीर की शुक्ल लेश्या उत्कृष्ट थी। वैसे तो तीर्थङ्कर होने के कारण उनके शरीर के पुद्गल विशिष्ट थे ही, मगर शुक्ल लेश्या के कारण और भी विशिष्ट थे। अतएव भगवान के रक्त का स्वाद चंडकौशिक को विलक्षण ही लगा। उसने सोचा—यह मूर्ति तो परिचित जान पड़ती है। यह ध्यान भी परिचित जान पड़ता है। इस प्रकार ध्यान लगाते-लगाते उसे जातिस्मरण होते ही ज्ञात हुआ कि मैं मुनि था और क्रोध करने के कारण साँप हुआ हूँ।

इतने में भगवान का व्युत्सर्ग पूरा हुआ। उन्होंने चंडकौशिक से कहा—'समझ, चंडकौशिक ! समझ ! तेरा और मेरा आत्मा समान है। अब तो बोध प्राप्त कर।'

चंडकौशिक, भगवान की यह वाणी सुनकर सोचने लगा—'यह तो भगवान हैं। मैंने यह शरीर क्या खाया नरक खाया, नरक खाया है। इस शरीर से मैंने बहुत पाप किया है। औरों की तो बात क्या, त्रिलोकीनाथ भगवान को भी मैंने नहीं छोड़ा !' ऐसा विचार कर चंडकौशिक ने अठारह पापों का त्याग कर दिया। उसने सोचा—'मैंने पापों का त्याग कर दिया, मगर मेरी दृष्टि में विष है। जिस पर मेरी दृष्टि पड़ेगी, वह मारा जायगा।'

चंडकौशिक ने किसी को पीड़ा न पहुँचे, इस अभिप्राय से बांबी में अपना सिर घुसेड़ लिया। सोचा—भगवान ने यहाँ आकर व्युत्सर्ग किया, उसी तरह मैं भी व्युत्सर्ग करता हूँ। मैं भी अपना शरीर त्यागता हूँ। अब इस शरीर को कोई भी खा जावे, कोई भी ले जावे। मुझे इससे कोई सरोकार नहीं।

भगवान के पीछे जो रखवाले आये थे, वह आपस में कहने लगे—साँप आया तो था, मगर इस महात्मा का तो कुछ भी नहीं

बिगड़ा ! वे लोग पत्थर फैंककर देखने लगे—साँप जीवित है या मर गया है ! लेकिन साँप हिलता-डुलता नहीं था। उन लोगों ने मशहूर कर दिया—साँप शान्त हो गया है !

लोगों में यह बात प्रसिद्ध हो गई कि साँप शान्त हो गया। दुःखदायी शक्ति जब शान्त हो जाती है तो लोग उसकी पूजा करते हैं। इस परम्परागत प्रथा के अनुसार जनता दूध, दही से साँप की पूजा करने लगी। मगर अब पूजना और मारना उसके लिए समान था। दूध, दही आदि लगने के कारण उसके शरीर को चींटियाँ लग गईं। साँप को वेदना हो रही थी। तब उसने सोचा—मैंने अनेकों को और त्रिलोकीनाथ भगवान को भी कष्ट पहुँचाया है। चींटियाँ मेरे पाप को हलका कर रही हैं।

इस प्रकार शान्ति रखने से भगवान में जो लेश्या थी, वही लेश्या उसकी भी हो गई। जीव जिस गति में जाने को होता है, उसी के अनुकूल लेश्या उसकी हो जाती है। चंडकौशिक को शुक्ल लेश्या प्राप्त हो गई। ज्यों-ज्यों वेदना बढ़ती जाती थी, उसका ध्यान भी बढ़ता जाता था। उसने क्रोध नहीं किया। उसका पाप धुलने लगा। वह धैर्य के साथ कष्ट सहता रहा। उसे चींटियों ने काट-काटकर खोखला बना दिया। अन्त में शरीर त्याग कर वह स्वर्ग पहुँचा।

हम लोग न भगवान के समान हैं, न चंडकौशिक के ही समान हैं—बीच के हैं। फिर भी साँप से ऊँची श्रेणी के हैं। मगर यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने कर्तव्य से कहीं साँप न बन जाएँ ! साँप ने कीड़ियों का काटना सहन किया था। क्या हम किसी का एक बोल भी सहन नहीं कर सकते ?

५ : कर्मदाह

राजा प्रदेशी

प्रदेशी राजा ने ऐसे घोर कर्म बाँधे थे कि एक-एक नरक में अनेक-अनेक बार जाने पर भी सब कर्म पूरे न भोगे जावें। उसने निर्दयता से प्राणियों की हिंसा की थी। वह अपने मत की परीक्षा के लिए चोरों को कोठी में बन्द कर देता था और कोठी को चारों ओर से ऐसी मूंद देता था कि कहीं हवा का प्रवेश न हो सके। वह मानता था कि जीव और काय एक हैं, अलग नहीं। इसी बात को देखने के लिए वह ऐसा करता था। अगर जीव और शरीर अलग-अलग होंगे तो चोर के मरने पर भी जीव दिखाई देगा। कोठी एकदम बंद है तो जीव निकलकर जायगा कहाँ? कई दिनों बाद वह चोर को कोठी से बाहर निकालता। चोर मरा हुआ मिलता। राजा प्रदेशी कहता—देखो, काय के अतिरिक्त आत्मा अलग नहीं है। यहाँ अकेला शरीर ही दिखाई दे रहा है।

कभी-कभी प्रदेशी राजा किसी चोर को चीर डालता और उसके टुकड़े-टुकड़े करके आत्मा को देखता था। जब आत्मा दिखाई न देता तो अपने मत का समर्थन हुआ समझता और कहता कि शरीर से अलग आत्मा नहीं है। तात्पर्य यह कि प्रदेशी राजा घोर हिंसक था और महान पाप करता था।

जो आत्मा अज्ञान अवस्था में घोर पाप करता है, ज्ञान होने पर वही किस प्रकार ऊँचा उठ जाता है, इसके लिए प्रदेशी का उदाहरण मौजूद है।

धन धन केशी सामजी, सारया प्रदेशी ना काम जी।

केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा को समझाया, तब वह जीव और शरीर को अलग-अलग मानने लगा। पहले वही प्रदेशी लोगों की आजीविका छीन लेता था और साधु-सन्तों के प्राण लेने में संकोच नहीं करता था। चित्त नामक प्रधान ने केशी स्वामी से प्रार्थना की कि— महात्मन्! आप सिताम्बिका नगरी में पदार्पण कीजिये। वहाँ अतीव उपकार होने की संभावना है। वहाँ के लोग बड़े धर्मात्मा हैं। वे बहुत प्रेम से आपका उपदेश सुनेंगे। तब केशी श्रमण ने उत्तर दिया—हे चित्त! एक सुन्दर बगीचा है। उसमें तरह-तरह के फल लगे हैं। अत्यन्त आनन्ददायक वह बगीचा है। बताओ, ऐसे उद्यान में पक्षी आना चाहेगा कि नहीं?

चित्त—क्यों नहीं महाराज! अवश्य आना चाहेगा।

केशी श्र०—लेकिन उस उद्यान में एक पारधी धनुष चढ़ाकर पक्षियों को मार डालने के लिए उद्यत खड़ा है। ऐसी दशा में वहाँ कोई पक्षी जायगा?

चित्त—अपने प्राण गँवाने कौन जायगा?

केशी श्र०—इसी प्रकार सिताम्बिका नगरी उद्यान की भाँति सुन्दर है, किन्तु वहाँ का राजा प्रदेशी हम साधुओं के लिए पारधी के समान है। वह साधुओं के प्राण लिए बिना नहीं मानता। वह अपने अज्ञान से साधुओं को अनर्थ की जड़ समझता है। ऐसी दशा में, तुम्हीं बताओ, हमारा वहाँ जाना उचित होगा?

चित्त—भगवन्, आपको राजा से क्या प्रयोजन? उपदेश तो वहाँ की जनता सुनेगी।

चित्त की बात सुनकर केशी श्रमण ने सोचा—आखिर चित्त वहाँ का प्रधान है। इसका आग्रह है तो जाने में क्या हानि है? सम्भव है राजा भी सुधर जाय। परीषह और उपसर्ग आएँगे तो हमारा लाभ ही होगा—कर्मों की विशेष निर्जरा होगी।

इस प्रकार विचार कर केशी श्रमण ने सिताम्बिका जाने की स्वीकृति दे दी और वहाँ पधार भी गये। चित्त प्रधान घोड़े फिराने के बहाने प्रदेशी राजा को उनके पास ले आया। केशी श्रमण ने राजा को उपदेश दिया। उपदेश से प्रभावित हो राजा ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये।

जब राजा जाने लगा तो केशी स्वामी ने उससे कहा—राजन्, अब तुम रमणीक हुए हो, मगर हमारे चले जाने पर फिर अरमणीक न बन जाना।

राजा ने उत्तर दिया—नहीं महाराज! मेरे नेत्र आपने खोल दिये हैं। अब देखते हुए गड्ढे में नहीं गिरूँगा। बल्कि अपने राज्य के सात हजार ग्रामों के चार भाग आपके सामने ही किये देता हूँ। एक हिस्सा राज्य-भण्डार के लिए, दूसरा अन्तःपुर के लिए, तीसरा राज्य की रक्षा के लिए और चौथे हिस्से से श्रमणों-माहणों के लिए एवं भिखारियों के एलि दान देता हुआ तथा अपने व्रतों का पालन करता हुआ विचरूँगा।

मित्रो! राजा प्रदेशी एक दिन दूसरों के हाथ का ग्रास छीन लेता था, अब छीनता नहीं, वरन् देता है। क्या उसके यह दोनों कार्य बराबर हैं? अगर कोई जैनदर्शन के नाम पर इन दोनों कार्यों को समान बतलाकर एकान्त पाप कहता है तो उसे क्या कहना चाहिए?

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने घोर पाप करके कर्मों का बंध किया था। कथा में उल्लेख है कि उसने बेले-बेले पारण किया और शास्त्र में कहा है कि उसने समभाव धारण किया। इस प्रकार प्रदेशी ने अपने इन कर्मों का नाश कर दिया।

> राजा प्रदेशी ने सूरीकन्ता नार।
> इष्टकान्त वल्लभ धणी सरे, शास्तर में अधिकार।
> निज स्वारथ वश पापिणी सरे, मार्यो निज भर्तार।

राजा प्रदेशी की सूरिकान्ता नाम की रानी थी। राजा को वह

वहुत प्यारी थी। राजा ने जव केशी श्रमण से वारह व्रत धारण कर लिए और वह धर्मात्मा बन गया, तब सूरिकान्ता ने सोचा— राजा, धर्म के ढोंग में पड़ा रहता है। विषय-भोग का आनन्द विगड़ गया है। इसे मरवाकर और कुँवर को राजसिंहासन पर विठलाकर राजमाता होने का नवीन सुख क्यों न भोगा जाय?

इस प्रकार दुष्ट संकल्प करके रानी ने अपने पुत्र सूरीकान्त को वुलवाया। रानी ने उससे कहा—बेटा, तुम्हारा पिता ढोंगियों के चक्कर में पड़कर राज्य को मटियामेट किये देता है। थोड़े दिनों में ही सफाया हो जायगा, तव तुम क्या करोगे? अतएव अपने भविष्य को देखो और अपना भला चाहते हो तो राजा को इस संसार से उठा दो। मैं तुम्हें राजा बनाऊँगी।

राजकुमार को अपनी माता के वचन ज़हर-से लगे। उसने पिता को मारने से इन्कार कर दिया। मन-ही-मन सोचा—तुम मेरे देव-गुरु के समान पिता को मार डालने को कहती हो! तुम माता हो, तुमसे क्या कहूँ? कोई दूसरा होत तो इस वात का ऐसा मजा चखाता कि वह भी याद रखता।

राजकुमार के चले जाने पर रानी ने सोचा—यह वहुत वुरा हुआ। मुँह से वात भी निकल गई और काम भी सिद्ध न हुआ। कहीं राजकुमार ने यह वात प्रकट कर दी तो घोर अनर्थ होगा। मैं कहीं की नहीं रहूँगी। अतएव वात फूटने से पहले ही राजा को मार डालना श्रेयस्कर है।

ऐसा भीषण संकल्प करके रानी पौषधशाला में जहाँ राजा मौजूद था, आई। उसने राजा के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा— आप तो वस, यहीं के हो गये हैं? किस अपराध के कारण मुझे भुला दिया है? आपके लिए तो और रानियाँ भी हो सकती हैं, मगर मेरे लिए आपके सिवाय और कौन है? अतएव आज कृपा करके मेरे ही महल में पधारिये और वहीं भोजन कीजिए।

राजा ने सोचा—स्त्री-सुलभ पतिभक्ति से प्रेरित होकर रानी उलाहना और निमंत्रण दे रही है। उसने रानी के महल में भोजन करना स्वीकार किया। रानी अपने महल में लौट आई। उसने राजा के लिए विषमिश्रित भोजन बनाया। जल में भी विग मिलाया और आसन आदि पर भी विष का छिटकाव किया। इस प्रकार विष-ही-विष फैलाकर रानी ने राजा को भोजन करने के लिए बैठाया और राजा के सन्मुख विषमिश्रित भोजन-पानी रख दिया। रानी पतिभक्ति का दिखावा करने के लिए खड़ी होकर पंखा झलने लगी। ज्यों ही राजा ने भोजन आरम्भ किया, उसे मालूम हो गया कि भोजन में विष का मिश्रण किया गया है। वह चुपचाप उठकर पौषधशाला में आ गया।

राजा किस प्रकार अपने कर्मों की उदीरणा करता है, यह ध्यान देने की बात है। इसे ध्यान से सुनिये और विचार कीजिए।

पौषधशाला में आकर राजा विचारने लगा—रानी ने मुझे जहर नहीं दिया है। मैंने रानी के साथ जो विषयभोग किया है, यह जहर उसी के प्रताप से आया है।

यद्यपि प्रदेशी राजा चढ़े हुए जहर को उतार सकता था और रानी को दण्ड भी दे सकता था। लेकिन जिन्हें कर्म की उदीरणा करनी होती है, वे दूसरे की बुराइयों का हिसाब नहीं लगाते।

राजा प्रदेशी सोचने लगा—हे आत्मन्! यह विष तुझे नहीं मिला है, किन्तु तेरे कर्म को मिला है। तूने जो प्रगाढ़-कर्म बांधे हैं, उन्हें नष्ट करने के लिए इस ज़हर की जरूरत थी। मैंने जीव और शरीर को अलग-अलग समझ लिया है। यह स्पष्ट हो रहा है कि यह ज़हर आत्मा पर नहीं, शरीर पर अपना असर कर रहा है। आत्मा तो वह है कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
नैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

अर्थात्---आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती। आत्मा छिदने योग्य नहीं है, सड़ने-गलने योग्य नहीं है, सूखने योग्य नहीं है। वह नित्य है, प्रत्येक शरीर में रहता है, स्थायी है, अचल है और सनातन है।

राजा प्रदेशी सोचता है— हे आत्मा! यह विष तुझे मार नहीं सकता, यह तेरे कर्मों को ही काट रहा है। इसलिए चिन्ता न कर। तू बैठा-बैठा तमाशा देख।

मित्रो! इसका नाम प्रशस्त परिणाम है। इसीसे कर्मों की उदीरणा होती है। ऐसा परिणाम उदित होने पर कर्मों की ऐसी दशा होती है, जैसे उन्हें जहर ही दे दिया गया हो।

राजा ने फिर सोचा— प्रिये! तूने खूब किया। मेरे कर्मों को अच्छा जहर दिया। तूने मेरी बड़ी सहायता की। ऐसा न करती तो मुझ में उत्तम भावना न आती। पतिव्रता के नियमों का पालन तूने ही किया है।

राजा ने प्रमार्जन, प्रतिलेखन तथा आलोचना—आदि करके अरिहंत-सिद्ध भगवान की साक्षी से संथारा धारण कर लिया।

उधर रानी के हृदय में अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे। उसने सोचा— ऐसा न हो कि राजा जीवित रह जाए, अगर ऐसा हुआ तो भारी विपदा में पड़ना पड़ेगा। अतएव इस नाटक की पूर्णाहुति करना ही उचित है। इस प्रकार सोचकर वह राजा के पास दौड़ी आई और प्रेम दिखलाती हुई कहने लगी— मैंने सुना, आपको कुछ तकलीफ हो गई है?

राजा ने रानी से कुछ भी नहीं कहा। वह चुपचाप अपने आत्म-चिन्तन में निमग्न रहा। संसार का असली स्वरूप उसके सामने नाचने लगा। तब रानी ने राजा का सिर अपनी गोद में लिया और अपने

सिर के लम्बे-लम्बे बालों से उसका सिर ढँक लिया। इस प्रकार तसल्ली करके और चारों ओर निगाह फेरकर उसने राजा का गला दबोच दिया।

रानी ने जब अपने पति का—राजा का गला दबाया तो वह सोचने लगा—रानी मेरा गला नहीं दबा रही है, मेरे शेष कर्मों का नाश कर रही है।

राजा प्रदेशी ने इस प्रकार कर्मों की उदीरणा की। इस उदीरणा के प्रताप से वह सूर्याभ विमान में देव हुआ। उदीरणा ने उसे नरक का अतिथि होने से बचा लिया और स्वर्ग-सुख का अधिकारी बनाया। राजा प्रदेशी ने अल्पकालीन समाधिभाव से ही अपना बेड़ा पार कर लिया। अगर वह दूसरे का हिसाब करने बैठता तो ऐसा न होता।

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने उदीरणा के प्रताप से न जाने कितने भवों का पाप क्षय करके आत्मा को हलका बना लिया। इस प्रकार उदीरणा के द्वारा करोड़ों भवों में भोगने योग्य कर्म क्षण भर में ही नष्ट किये जा सकते हैं।

६ : अर्थ और अनर्थ

एक समय की बात है। रामचन्द्रजी सीता के साथ राजसभा में विराजमान थे। हनुमान उनका बड़ा भक्त था। उसने रामचन्द्रजी की सेवा निष्काम भाव से अर्थात् स्वार्थबुद्धि से रहित होकर की थी। लोगों ने उसकी उत्कृष्ट सेवा की प्रशंसा की। सीता देवी ने प्रसन्न होकर अपने गले का हार हनुमान को इनाम में दे दिया। आप जानते हैं—हीरा कीमती होता है और फिर सीता जैसी महारानी के पहनने का हार! उसकी कीमत का क्या पूछना? वह अमूल्य हार था।

हनुमान उस हार को ले एक तरफ चले गये और हार में से एक-एक हीरा निकाल-निकालकर, उन्हें पत्थर से फोड़कर टुकड़ों को हाथ में ले आकाश की तरफ मुँह कर आँख से देखने लगे। लोग यह दृश्य देखकर खिलखिलाकर हँसने लगे। आखिर हनुमान से पूछा गया—भाई, हार की यह दुर्दशा क्यों कर रहे हो?

हनुमान ने उत्तर दिया—'मैं हीरे फोड़-फोड़कर देख रहा हूँ कि इनमें कहीं राम हैं या नहीं? अगर हैं तो ठीक, अन्यथा मेरे लिए यह निकम्मे हैं, निस्सार हैं।' लोग यह उत्तर सुनकर चकित रह गये। सभी उनकी वाह-वाह! करने लगे।

यह एक अलंकारिक वर्णन है। इसके गूढ़ रहस्य को समझने का प्रयत्न कीजिए। हनुमान ने यहाँ आत्मिक विचार किया था। उन्होंने देखना चाहा—इन हीरों में धर्मरूपी राम हैं या नहीं? जिस वस्तु में धर्म नहीं हो, वह रद्दी है। अगर हीरों में राम न

हो— धर्म न हो तो वह चाहे जितने कीमती समझे जाते हों, काँच के टुकड़े के बराबर हैं । यह बात जैन शास्त्र में 'सेसे अणट्ठे' शब्दों द्वारा व्यक्त की गई है । अर्थात् जिस वस्तु में धर्म न हो, वह थोथी है— अनर्थ रूप है । जिस वस्तु में धर्म है, वह पाप से बचाती है ।

७ : सम्राट् अनाथ !

[जो तुम्हारा है, वह तुमसे कभी विलग नहीं हो सकता । जो वस्तु तुमसे विलग हो जाती या हो सकती है, वह तुम्हारी नहीं है । पर-पदार्थों के साथ आत्मीयता का भाव स्थापित करना महान् भ्रम है । इसी भ्रमपूर्ण आत्मीयता के कारण जगत् अनेक कष्टों से पीड़ित है । अगर 'मैं' और 'मेरी' की मिथ्या धारणा मिट जाय तो जीवन में एक प्रकार की अलौकिक लघुता, निरुपम निस्पृहता और दिव्य शान्ति का उदय होगा ।

हाथी, घोड़े, महल, मकान आदि आपके नहीं हैं, यह बात अनाथी मुनि और महाराजा श्रेणिक के संवाद से भली-भांति समझी जा सकती है ।]

एक बार मगध का अधिपति श्रेणिक मंडिकुक्ष नामक उद्यान में विहार करने के लिए आया । संयोगवश अनाथी मुनि भी उसी उद्यान में विराजमान थे । राजा श्रेणिक की मुनि पर दृष्टि पड़ते ही वह उनकी ओर इस प्रकार आकर्षित हो गया जैसे चुम्बक से लोहा आकर्षित होता है । मुनि का दिव्य रूप और उनके मुख पर विराजमान तेज देखकर वह चकित रह गया । रूप बनावटी है या वास्तविक है, यह तो मुखाकृति देखते ही पता चल जाता है । बनावटी रूप छिपा नहीं रहता । मुनि के मुख पर जो तेज और रूप था, वह आन्तरिक तेज का प्रतिविम्ब था । उसे देखकर राजा को आश्चर्य हुआ । वह मन-ही-मन सोचने लगा— यह मुनि कैसे रूपवान् हैं ! रूप का इतना धनी तो मैंने आज तक किसी को नहीं देखा । यहाँ यह स्मरण

रखना चाहिए कि श्रेणिक स्वयं अत्यन्त सुन्दर था। उसकी सुन्दरता के विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार वह वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर जब भगवान महावीर के समवशरण में गया था, तब उसका रूप-लावण्य देखकर कई साध्वियाँ भी मुग्ध हो गईं थीं और उन्होंने ऐसे सुन्दर पुरुष की प्राप्ति का निदान किया था। इतने अधिक सौन्दर्य से सम्पन्न श्रेणिक भी मुनिराज का रूप देखकर चकित रह गया, इससे मुनिराज की रूप-सम्पत्ति का अनुमान किया जा सकता है।

अन्ततः राजा श्रेणिक मुनिराज के समीप गया। वह उनके बाह्य एवं आन्तरिक गुणों का आकलन कर चुका था, अतएव उसने मुनिराज के चरणों में प्रणाम किया। उनकी प्रदक्षिणा की और न मुनिराज से अधिक दूर, न अधिक पास, यथोचित स्थान पर बैठ गया। तत्पश्चात् अत्यन्त नम्रतापूर्वक राजा ने कहा— 'प्रभो' आज्ञा हो तो मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। मुनिराज की स्वीकृति प्राप्त करके उसने कहा— 'महाराज' ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने भर जवानी में दीक्षा क्यों धारण की है? इस उम्र में तो भोगोपभोग भोगने में रुचि होती है, फिर आप विरक्त होकर चारित्र का पालन करने के लिए क्यों निकल पड़े हैं? संसार के भोग भोगने योग्य इस अवस्था में आप योग की आराधना करें, यह ठीक नहीं जान पड़ता। अगर आप वृद्ध होते तो मुझे इतना कुतूहल न होता और आपकी योग-साधना भी समझ में आ सकती थी। पर युवावस्था में आपने संयम धारण किया है, इसलिए मैं यह प्रश्न पूछने के लिए उद्यत हुआ हूँ। यदि आपकी भाँति सभी लोग इस तरुण अवस्था में संयम धारण करने लगेंगे तो गजब हो जायगा। मैं यह प्रश्न प्रत्येक संयमी से नहीं पूछता। पर मेरे सामने जिसने युवावस्था में संयम धारण किया हो, उससे यह पूछना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। अगर मैं अपने कर्तव्य का पालन न करूँ, तो राजा कैसे कहला सकता हूँ? अनुचित और अस्थानीय कार्य को रोक देना राजा का कर्तव्य हैं। अतः कृपा कर यह सम-

भाइए कि आप बुद्धिमान होते हुए भी इस उम्र में संयम की साधना के लिये क्यों प्रवृत्त हुए हैं ? अगर आपने किसी कष्ट के कारण या किसी के बहकाने से संयम ग्रहण किया हो, तो भी निःसंकोच होकर कह दीजिए, जिससे मैं आपका कष्ट निवारण करने में सहायक बनूं ।

राजा श्रेणिक का प्रश्न सुन कर मुनिराज ने उत्तर दिया— 'महाराज, मैं अनाथ था । मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं था । मेरा पालन कोई कर नहीं सकता था । इसलिए मैंने संयम धारण किया है ।'

मुनि के इस संक्षिप्त उत्तर से यह समझा जा सकता है कि वह कोई भटकने वाला व्यक्ति होगा । उसे खाने-पीने और रहन-सहन की सुविधा न होगी । उसकी रक्षा करने वाला कोई न होगा, इसलिए उसने दीक्षा ले ली होगी । अथवा—

नारी मुई घर सम्पत नासी ।
मूंड मुंडाय भये संन्यासी ॥

इस कथन के अनुसार या तो स्त्री का देहान्त हो गया होगा अथवा सम्पत्ति नष्ट हो गई होगी । ऐसे ही किसी कारण से मूंड मुंडा-कर दीक्षा ले ली होगी !

राजा को भी मुनि का उत्तर सुनकर आश्चर्य हुआ । उसने सोचा होगा—अभी तो ऐसा कलियुग नहीं आया कि कोई दयालु अनाथ की रक्षा न करे । फिर यह मुनि तो इस प्रकार की ऋद्धि से सम्पन्न हैं, यह अनाथ कैसे हो सकते हैं ? इनका कथन तो ऐसा मालूम होता है, जैसे कल्पवृक्ष कहे कि मेरा कोई आदर नहीं करता, चिन्तामणि कहे—कोई मुझे रखता नहीं है या कामधेमु कहे— मुझे कोई खड़े होने की भी जगह नहीं देता । जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु का यह कथन असंभव प्रतीत होता है, इसी प्रकार इन मुनि की बात भी कुछ समझ में नहीं आती है । जिनके शरीर में शंख, चक्र, पद्म आदि शुभ लक्षण विद्यमान हैं, उनका कोई नाथ न हो, उनकी रक्षा करने वाला कोई न हो, उनका कोई सहायक मित्र भी न हो, यह कैसे

माना जा सकता है ?

कवि कहते हैं—हंस से कदाचित् विधाता रुष्ट हो जाय तो उसके रहने का कमल-वन नष्ट कर सकता है। उसे मानससरोवर में रहने में वाधा पहुँचा सकता है। पर उसकी चोंच में दूध और पानी को अलग-अलग करने का जो गुण विद्यमान है, वह तो नहीं छीन सकता।

इस प्रकार मन-ही-मन सोचकर राजा ने कहा—'मुनिराज! आप ऐसी असाधारण ऋद्धि से सम्पन्न होने पर भी अपने को अनाथ कहते हैं। यह बात मानने को जी नहीं चाहता। मैं अधिक चर्चा करना नहीं चाहता। आप मेरे साथ चलिए, मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे राज्य में कोई कमी नहीं है।'

आपको भी राजा के समान विवेकशील बनना चाहिए। अगर कोई बात आपकी समझ में न आवे तो दूसरे पर झटपट आक्षेप कर डालना उचित नहीं है। पहले वास्तविकता को समझने का नम्रता-पूर्वक प्रयास करो, फिर यथोचित कर्तव्य का निर्णय करो।

श्रेणिक मुस्करा कर फिर बोला—'हे भदन्त! मैं आपसे कुछ अधिक न कहते हुए बस यही कहना चाहता हूँ कि आप संकोच न करें। आपने अनाथता के दुःख से प्रेरित होकर संयम धारण किया है, मैं उस अनाथता का दुःख दूर करने के लिए आपका नाथ बनता हूं। जब मैं स्वयं नाथ बन जाऊँगा, तो आपको किस चीज की कमी रहेगी? अतएव मुनिराज, चलिए संयम त्यागकर भोगोपभोग का सेवन कीजिए। आपको सब प्रकार की सुख-सुविधा प्राप्त होगी।

राजा का यह कथन सुनकर मुनि को आश्चर्य हुआ। इधर मुनि सोच रहे थे–'वेचारा राजा स्वयमेव अनाथ है, तो फिर मेरा नाथ कैसे बनेगा?' उधर राजा सोचता था—'ऐसे प्रशस्त लक्षणों से सम्पन्न ऋद्धिशाली पुरुष का नाथ बनने में कौन अपना सौभाग्य न समझेगा?'

अन्त में मुनिराज ने गम्भीर होकर कहा—'राजन् ! तुम स्वयं अनाथ हो, तो दूसरे के नाथ कैसे बनोगे ? जो स्वयं दिगम्बर है—वस्त्ररहित है, वह अपने दान से दूसरों का तन कैसे ढँकेगा ?

'शरीर भोगोपभोग के लिए है, यह विचार आते ही आत्मा गुलाम एवं अनाथ वन जाती है। आप समझते हैं—अमुक वस्तु हमारे पास है, अतएव हम उसके स्वामी हैं। पर ज्ञानी-जन कहते हैं—अमुक वस्तु तुम्हारे पास है, इसीलिए तुम उसके गुलाम हो—अतएव अनाथ हो। एक अज्ञानी पुरुप सोने की कंठी पहनकर घमण्ड से चूर हो जाता है। वह दिखाना चाहता है कि मैं सोने का स्वामी हूँ, पर विवेकी पुरुप कहते हैं—'वह सोने का गुलाम है।' अगर वह सोने का गुलाम न होता तो सोना चले जाने पर उसे रोना क्यों पड़ता है ? वह सोने का आश्रय क्यों लेता है ? जहाँ पराश्रय है वहीं गुलामी है, जहाँ गुलामी है, वहीं अनाथता है।'

मुनि ने राजा को अनाथ कहा। उसका भावार्थ यही है कि तुम जिन वस्तुओं के कारण अपने को नाथ समझते हो, उन्हीं वस्तुओं के कारण वास्तव में तुम अनाथ हो। जव तुम स्वयं अनाथ हो तो दूसरे के नाथ कैसे वन सकते हो ? इस प्रकार जिन वस्तुओं पर तुम्हारा स्वामित्व नहीं है, वह वस्तु अगर दूसरों को प्रदान करोगे तो वह चोरी कहलाएगी, उसके लिए दण्ड का पात्र वनना पड़ेगा।

मुनिराज के इस कथन से राजा के विस्मय का ठिकाना न रहा। मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति श्रेणिक अनाथ है ! यह कल्पना ही उसे आश्चर्यजनक प्रतीत हुई। उसने सोचा—मुनि मुझे अनाथ कहते हैं, यह मेरे लिए अश्रुतपूर्व है। आज तक मुझे किसी ने अनाथ नहीं कहा। मुझे घर-वार छोड़कर वाहर भटकना पड़ा था—मुसीवतों में मारा-मारा फिरता था, उस समय भी किसी ने मुझे अनाथ नहीं कहा था। मैंने उस गाढ़े अवसर पर भी अनाथता अनुभव न की थी, वरन् अपने पुरुपार्थ पर अवलम्बित रहकर अपना

काम निकाला। संभव है, मुनि को मेरे वैभव का पता न हो। इनकी आकृति से जान पड़ता है कि यह मुनिराज महान् ऋद्धि के धनी हैं, तो संभव है इनकी दृष्टि में मैं अनाथ जँचता होऊँ।

राजा ने कहा—महाराज ! मैं मगध का अधीश्वर हूँ। मैं सम्पूर्ण मगध का पालन-रक्षण करता हूँ। मेरे राज्य में अनेक हाथी, घोड़े आदि विद्यमान हैं। बड़े-बड़े भाग्यशाली राजा मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं और अपनी कन्याएँ मुझे देकर अनुग्रहीत होते हैं। मेरी आज्ञा का अनादर करने का किसी में साहस नहीं है। ऐसी स्थिति में आप मुझे अनाथ क्यों कहते हैं ! मुनि होकर, मुझ सरीखे महान् ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् को आप अनाथ कहते हैं। वह मिथ्याभापण आश्चर्य उत्पन्न करता है। सूर्य प्रकाश न दे यह आश्चर्यजनक है। इसी प्रकार मुनि मिथ्याभाषण करें यह भी आश्चर्यजनक है। मुनि कभी असत्य का प्रयोग नहीं करते। मुनिवर ! आपको असत्य न कहना चाहिए। आपके कथन का मर्म क्या है, कृपया स्पष्ट समझाइए।

मुनि ने उत्तर दिया— राजन् ! आप सनाथ-अनाथ का भेद नहीं जानते। इसी कारण आप यह कह रहे हैं और आश्चर्य में पड़े हुए हैं। मैं आपको सनाथ-अनाथ का रूप समझाता हूँ। शान्त-चित्त से सुनिये। यह मेरे स्वानुभव की बात है, इसमें संदेह के लिए लेशमात्र अवकाश नहीं है।

कौशाम्बी नाम की नगरी में मेरे पिता रहते थे। उनके पास प्रचुर धन-सम्पत्ति थी। मेरा लालन-पालन अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया था। मुझे किसी चीज की कमी न थी। मेरी बाल्य-अवस्था बड़े आनन्द से व्यतीत हुई। जब मैं तरुण अवस्था में आया तो सुयोग्य कन्या के साथ मेरा विवाह-संबंध हुआ। आप जिस अवस्था को भोग भोगने योग्य कहते हैं, उसी अवस्था में आपके बताये हुए समस्त साधन विद्यमान होने पर भी मेरी क्या दशा हुई सो ध्यान से सुनिये। युवावस्था में मेरी आँखों में रोग उत्पन्न हो गया। उसके कारण मुझे

तीव्र वेदना होने लगी। नेत्र-पीड़ा के साथ-ही-साथ मेरे सम्पूर्ण शरीर में दुःसह संताप फूट पड़ा। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो सारा शरीर आग में रख दिया गया है।

राजन् ! आप शासन के संचालक हैं। अगर आपके सामने कोई किसी की आँखों में सुई भौंक दे या किसी का शरीर जला दे तो आप क्या करेंगे ?

राजा ने कहा— मेरे राज्य में किसी ने अपराध किया हो और पता लगने पर भी मैंने अपराधी को दंड न दिया हो, यह आज तक नहीं हुआ।

मुनि— राजन् ! बाहर के अपराधी से आप मेरी रक्षा कर सकते थे, पर जिस शैतान रोग ने मुझ पर आक्रमण किया था, उससे मुझे कौन बचा सकता था ? क्या आपके राज्य में रोग का आक्रमण नहीं होता ? क्या आप उस आक्रमण का सामना करने के लिए कभी प्रयत्नशील हुए और प्रजा की रोग से रक्षा की है ? क्या अब आपके राज्य में प्रजा रुग्ण नहीं होती ? अगर रोग से आप अपने प्रजाजनों की रक्षा नहीं कर सकते तो उनके नाथ कैसे कहला सकते हैं ? इस दृष्टि से विचार करो तो प्रजा का नाथ होना तो दूर रहा, आप अपने खुद के 'नाथ' भी नहीं ! मैं इसी प्रकार का अनाथ था। अगर यह कहा जाय कि रोग से किस प्रकार रक्षा की जा सकती है ? वह तो अपने हाथ की बात नहीं है। तो फिर नाथ होने का दावा क्यों करना चाहिए ? नम्रतापूर्वक अपनी अनाथता स्वीकार करनी चाहिए, जिससे सनाथ बनने का उपाय सूझ पड़े और उसके लिए प्रयत्न भी किया जा सके।

राजन् ! तुम बाहर के शत्रुओं को देखते हो, पर भीतर जो शत्रु छिपे बैठे हैं उन्हें क्यों नहीं देखते ? भीतर के शत्रु ही तो असली शत्रु हैं। उन्हें जो जीत नहीं सकता, वह नाथ कैसा ? अतएव तुम स्वयं भी अनाथ हो।

राजा—आपको बड़ी असह्य वेदना थी ?

मुनिराज—मैं क्या बताऊँ ! आँखों में तीव्र वेदना थी, जैसे कोई तीक्ष्ण भाला लेकर उनमें चुभा रहा हो। आप विचार कीजिए कि उस समय जो शत्रु मुझे घोर वेदना पहुँचा रहा था उसे पराजित न कर सकने वाला सनाथ है या अनाथ है ? एक ओर मेरी आँखों में पीड़ा थी, दूसरी ओर दर्द के मारे कमर टूटी जाती थी। इसके अतिरिक्त, जिसे उत्तमांग कहते हैं और जो ज्ञान का केन्द्रभूत मस्तिष्क है, उसमें भी इतनी पीड़ा थी मानो इन्द्र वज्र का प्रहार कर रहा है। इस प्रकार मेरा सारा शरीर पीड़ा से छटपटा रहा था।

आप कह सकते हैं कि उस वेदना का प्रतीकार करने के लिए वैद्य की सहायता लेनी चाहिए थी। पर जितने बड़े-बड़े चिकित्सकों का उस समय पता चला, सबसे चिकित्सा कराई गई। दवा में किसी प्रकार की कोरकसर नहीं की गई। नाना प्रकार की चिकित्सा-प्रणालियों का अवलम्बन किया गया पर फल कुछ भी नहीं निकला। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित आयुर्वेदज्ञ, ऑपरेशन करने में कुशल, मंत्र-विद्या-विशारद लोग अपना कौशल दिखाते-दिखाते थक गये। वेदना नहीं मिटी, सो नहीं मिटी। अब कहो मैं उस समय सनाथ था ?

राजन् ! तुमने जिस शरीर की प्रशंसा की है और जिस शरीर को भोग के योग्य बताया है, उसी शरीर में यह पीड़ा उत्पन्न हुई थी। उस समय मुझे यह विचार आया कि मैं इस शरीर के कारण ही इतना कष्ट भुगत रहा हूँ। अगर मुझे विष मिल जाय तो विष-पान करके इस मार्मिक पीड़ा से मुक्त होऊँ। मगर फिर सोचा—विषपान करने से भी शरीर का सर्वथा अन्त न होगा। शरीर-उत्पत्ति के कारण-भूत कर्म जब तक विद्यमान हैं तब तक एक शरीर का अन्त होने से क्या लाभ है ? एक पश्चात् दूसरा शरीर प्राप्त होगा और वह भी इसी प्रकार का होगा। शरीर की यह परम्परा जब तक नहीं मिट जाती तब तक एक शरीर का त्याग करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त मैंने

सोचा— जिस शरीर के कारण मुझे इतने कष्ट भोगने पड़ रहे हैं, उस शरीर का नाथ मैं अपने आप को क्यों मानूँ ? यह खोटी मान्यता ही सब अनर्थों की जड़ है। जब शरीर का ही यह हाल है तो आत्मीय जनों का तथा धन-दौलत का क्या ठिकाना है ? उसका कोई नाथ कैसे हो सकता है ? मुझे इस घटना से शरीर और आत्मा के पार्थक्य का भान हुआ। मैंने समझा— इस पीड़ा का कारण स्वयं मैं हूँ। अज्ञान के कारण मैं पर-पदार्थों को आत्मीय मान रहा हूँ। मैं अपने शरीर का भी नाथ नहीं हूँ, अगर शरीर का नाथ होता तो उस पर मेरा अधिकार होता। मेरी इच्छा के बिना वह रुग्ण क्यों होता ? वेदना का कारण क्यों बनता ? जीर्ण क्यों होता ? यह सब शरीरधारी की इच्छा के विरुद्ध होता है, अतएव यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने शरीर का नाथ नहीं है।

मित्रो ! अनाथी मुनि की कथा विस्तृत और भावपूर्ण है। उसे यहाँ पूर्ण रूप से नहीं कहा जा सकता। 'मैं' और 'मेरा' वास्तव में क्या है, यह स्पष्ट करने के लिए अनाथी मुनि की कथा उपयोगी है। इससे यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि पर-पदार्थों में ममत्व धारण करना भ्रममात्र है।

८ : मन की चपलता का प्रभाव

श्री प्रसन्नचन्द्र राजर्षि

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यान में बैठे हुए थे। वे ऊपर से तो ऐसे दीखते थे मानो आत्मा या परमात्मा में चित्त को लगाए हुए हैं, लेकिन वास्तविक बात कुछ और थी। राजा श्रेणिक ने प्रसन्नचन्द्र ऋषि को इस प्रकार ध्यान में बैठे देखा। उसे आश्चर्य हुआ कि इन ऋषि का ऐसा प्रगाढ़ ध्यान है! इस प्रकार उनके ध्यान से प्रभावित होकर राजा ने भगवान से पूछा—प्रभो! प्रसन्नचन्द्र ऋषि का जैसा ध्यान मैंने देखा है वैसा ध्यान किसी दूसरे का नहीं देखा। अगर वे इस समय शरीर का त्याग करें तो किस गति को प्राप्त हों?

राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—अगर वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जाएँ।

यह उत्तर सुनकर श्रेणिक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने पूछा—भगवन्! ऐसा क्यों? और जब ऐसे ध्यानी महात्मा सातवें नरक में जाएँगे तो मुझ जैसे पापी की क्या गति होगी? प्रभो! स्पष्ट रूप से समझाइए कि सब से अधिक वेदना वाले सातवें नरक में वे महात्मा क्यों जाएँगे?

भगवान ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—राजन्, अब उनकी भाव-स्थिति बदली है। अतएव इस समय काल करें तो सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हों!

भगवान की वाणी पर अटल श्रद्धा रखता हुआ भी श्रेणिक राजा गड़बड़ में गड़ गया। उसने सोचा—कहाँ सर्वार्थसिद्धि विमान

और कहाँ सातवाँ नरक ! दोनों परस्पर विरोधी दो सिरों पर हैं। एक सांसारिक सुख का सर्वोत्तम स्थान है और दूसरा दुःख का सर्वोत्तम स्थान है ! एक का जीवन अगले भव में मोक्ष जाना ही है और दूसरे से निकलने वाला अगले भव में मोक्ष जा ही नहीं सकता ! क्षण भर में इतना बड़ा भारी परिवर्तन ! यह कैसे सम्भव है ? इस प्रकार सोचकर श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया—प्रभो ! अभी-अभी तो आपने सातवें नरक के लिए कहा था और अब आप सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होने की बात कहते हैं ! आखिर इसका कारण क्या है ?

राजा श्रेणिक इस प्रकार प्रश्न कर ही रहा था कि उसी समय देवदुंदुभी का श्रुतिमधुर निर्घोष राजा के कानों में सुनाई दिया। राजा ने पूछा—प्रभो ! यह दुंदुभी कहाँ और क्यों बजी है ?

भगवान ने कहा—प्रसन्नचन्द्र ऋषि सर्वज्ञ हो गये हैं !

राजा श्रेणिक चकित रह गया ! उसने कहा-देवाधिदेव ! कुछ समझ में नहीं आया ! अभी आपने कहा था कि अभी काल करें तो सातवें नरक में जाएँ, फिर कहा कि सर्वार्थसिद्ध विमान में जाएँ और अब आप कहते हैं कि वे सर्वज्ञ हो गए हैं ! मै इसका मर्म समझना चाहता हूँ और उनका चरित सुनने की इच्छा करता हूँ। मुझ अज्ञ प्राणी पर अनुग्रह कीजिए !

भगवान ने कहा—राजन् ! प्रसन्नचन्द्र ऋषि पोतनपुर के राजा थे। उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और वे संयम ग्रहण करने के लिए उद्यत हुए। मगर उनके सामने एक समस्या खड़ी हुई कि लड़का अभी छोटा है। उसे किसके सहारे छोड़ा जाय ? इस विचार के कारण संयम ग्रहण करने में विलम्ब हो रहा था। परन्तु उनके किसी हितैषी ने अथवा उनके अन्तरात्मा ने कहा कि धर्मकार्य में ढील नहीं करना चाहिए। 'शुभस्य शीघ्रम्' होना चाहिए।

प्रसन्नचन्द्र ने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है। मुझे संसार से विरक्ति हो गई है और वह विरक्ति ऊपरी नहीं, भीतरी है, क्षणिक

नहीं, स्थायी है, मगर विलम्ब का कारण यह है कि पुत्र छोटा है। उसे किसके भरोसे छोड़ा जाय ?

प्रसन्नचन्द्र के इस कथन का उन्हें उत्तर मिला—अगर आज ही तुम्हें मृत्यु आ घेरे तो छोटे बालक की रक्षा कौन करेगा ? वैराग्य के साथ मोह-ममता के यह विचार शोभा नहीं देते। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को यह कथन ठीक मालूम हुआ और उन्होंने संयम लेने की तैयारी की। संयम लेने से पहले उन्होंने अपने पाँच सौ कार्यकर्ताओं को बुलाकर उनसे कहा— यह बालक छोटा है। यह तुम्हारे सहारे है। जब तक यह बड़ा न हो जाय, इसकी सँभाल रखना। कर्मचारियोंने आश्वासन देते हुए कहा—आपकी आज्ञा प्रमाण है। हम राजकुमार की सँभाल करेंगे और प्राण भले दे देंगे मगर इन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देंगे।

प्रसन्नचन्द्र ने पूर्ण वैराग्य के साथ संयम ग्रहण किया। मगर ऐसे उत्कट वैरागी की भावना में भी दूषण लग गया था। अतएव तुम्हारे पूछने पर मैंने यह कहा था कि यदि वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जावें।

राजा श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया—प्रभो ! उनकी भावना किस प्रकार दूषित हुई ?

भगवान—जिस समय तुम सेना लेकर यहाँ आ रहे थे, उस समय प्रसन्नचन्द्र ऋषि ध्यान में बैठे थे। तुम अपनी सेना के आगे-आगे दो आदमियों को इसलिए चला रहे थे कि वे भूमि देखते रहें और कोई जीव कुचल न जाय। दोनों आदमी मार्ग साफ करते जाते थे। उन दोनों ने भी प्रसन्नचन्द्र ऋषि को देखा। उनमें से एक ने कहा—यह महात्मा कितने त्यागी और कैसे तपस्वी हैं। देखो, किस तरह ध्यान में डूबे हुए हैं ! इनके लिए जगत की सम्पदा तुच्छ है।

एक आदमी के इस प्रकार कहने पर दूसरे ने कहा—तू भूल रहा है। यह महान् पापी और ढोंगी है। इसके समान पापी और ढोंगी

शायद ही कोई दूसरा होगा।

पहले आदमी ने साश्चर्य पूछा— क्यों? यह पापी क्यों है?

दूसरा आदमी बोला—अपने नादान बालक को अपने कर्मचारियों के भरोसे छोड़कर साधु हुआ है। मगर उन कर्मचारियों की नीयत बिगड़ गई है। वे सब आपस में मिल गये हैं और राजपुत्र की घात करने की फिराक में हैं। जब वे लोग उसे मार डालेंगे तो यह निपूता मरेगा? यह इसका पापीपन नहीं है? इसने कैसी भयानक भूल की है! दूध की रक्षा के लिए बिल्ली को नियत करना जैसे मूर्खता है, उसी प्रकार राजकुमार को कर्मचारियों के भरोसे छोड़ना मूर्खता है। इसकी मूर्खता के कारण ही अज्ञान बालक को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ेगी और यह मरकर नरक में जायगा!

श्रेणिक, तुम्हारे दोनों आदमियों की आपस की बातें ऋषि प्रसन्नचन्द्र ने सुनीं। यह बातें सुनकर उनके वैराग्य की भावना बदल गई। वह सोचने लगे—दुष्ट कृतघ्न लोग मेरे पुत्र की हत्या करना चाहते हैं! मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूँगा। मुझ में बल की कमी नहीं है। अब तक मुझे राज्यबल ही प्राप्त था पर अब मैं योगबल का भी अधिकारी हूँ। इन दोनों बलों द्वारा उन दुष्टों को बुरी तरह कुचल दूँगा।

प्रसन्नचन्द्र ऋषि के चित्त में इस प्रकार अहंकार का उदय हुआ और प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हुई। वे अपने मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करने लगे। यहाँ तक कि वे मन-ही-मन घोर युद्ध करने लगे। अपने शत्रुओं का संहार करने लगे। जब ऐसा कर रहे थे तभी तुमने प्रश्न किया कि वे काल करें तो कहाँ जावें? तुम उन्हें ध्यान में समझते थे और मैं देखता था कि वे घोर युद्ध में प्रवृत्त हैं। इसी कारण मैंने कहा था कि अगर वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जावें।

राजा श्रेणिक की उत्कंठा और बढ़ी। उसने प्रश्न किया—भगवन्! फिर आपने सर्वार्थसिद्धि विमान में जाने के लिए कैसे कहा?

भगवान ने उत्तर दिया— प्रसन्नचन्द्र ध्यान-मुद्रा में बैठे-बैठे भी क्रोध के आवेश में आकर युद्ध करने लगे थे। उसी क्रोधावेश में उनका हाथ अपने मस्तक पर जा पहुँचा। उन्होंने अपने सिर पर हाथ फेरा तो उन्हें विदित हुआ कि मेरे सिर पर केश नहीं हैं। यह सोचते ही उन्हें सुध आई कि— अरे! मैं तो त्यागी हूँ! मैंने जिसे त्याग दिया है, उसी के लिए फिर संसार में जाने की या चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? जिसे वमन कर दिया है उसे फिर अपनाने का विचार ही अशोभनीय है!

इस कथा के आधार पर आपको अपने सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता है। आप अपने मन की गति पर विचार कीजिए। आप यहाँ बैठे हैं, पर आपका मन कहाँ जा रहा है? प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान में बैठे थे, परन्तु उनका मन कहाँ-से-कहाँ चला गया था! और उसका परिणाम क्या हुआ? इसी प्रकार आप बैठे तो यहाँ हैं, मगर आपका मन अन्यत्र चला गया तो उसका परिणाम क्या होगा?

१ : माली अर्जुन

राजगृह नगर में अर्जुन नामक माली बगीचे में बागवानी का धंधा करता था। बागवानी का काम उसके यहाँ कई पीढ़ियों से चला आता था। जो मनुष्य अपना पीढ़ीजात धंधा करता है, उसका उस धन्धे में गहरा और निराला ही अनुभव होता है। जो चलते रास्ते दूसरे के धंधे को उड़ा लेता है और अपना परम्परागत धंधा त्याग देता है, वह उस धंधे को हानि पहुँचाता है। वह परम्परागत व्यवसाय को क्षति पहुँचाता है और नवीन व्यवसाय को भी। इससे समाज में बड़ी गड़बड़ी मचती है और अव्यवथा फैल जाती है। इसी कारण भारतवर्ष में वर्णव्यवस्था की स्थापना की गई थी और यह नियम बनाया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना परम्परागत व्यवसाय ही करना चाहिए। अगर कोई अपना व्यवसाय त्यागकर दूसरे के व्यवसाय में हाथ डाले तो राजा को हस्तक्षेप करके उसे रोकना चाहिए। अगर ऐसा न किया जाय तो वर्णसंकरता फैल जायगी।

अर्जुन माली अकेला ही अपना काम नहीं करता था। उसकी पत्नी भी उसकी सहायता करती थी। आजकल की स्त्रियाँ प्रायः अपने पतियों को बोझ रूप हो रही हैं। पहले की स्त्रियाँ ऐसी नहीं थीं—उनका ढंग कुछ और ही था। आज पुरुषों पर अपनी स्त्री की जोखिम बनी रहती है और इसीलिए स्त्री, पुरुष के लिए भाररूप हो पड़ी है। पुरुषों को सदा ही यह चिन्ता लगी रहती है कि हमारी स्त्री की ओर कोई बुरी नजर से न देखे और उसका अपमान न करे। उसे कोई बहका कर उड़ा न ले जाय। इस स्थिति के लिए उत्तरदाता कौन है—

पुरुषवर्ग या स्वयं महिलासमाज ? मैं इस झंझट में पड़ना नहीं चाहता किसी समूह को अवांछनीय स्थिति में डालने वाला दूसरा समूह अगर दोषी हो तो भी अवांछनीय स्थिति में पड़ने वाले समूह को निर्दोष नहीं कहा जा सकता। मगर इस अभियोग-प्रणाली को दूर रखकर मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि प्राचीन काल में महिला-समाज की ऐसी स्थिति नहीं थी। स्त्रियाँ, पुरुषों की अर्द्धांगिनी की हैसियत से उनकी सहायता किया करती थीं। वे न केवल व्यावहारिक कार्यों में ही, वरन धार्मिक कार्यों में भी पुरुषों की सहायिका बनती थीं। उपासकदशांग सूत्र में स्त्रियों को 'धम्मसहाया' अर्थात् धर्म में सहायता पहुँचाने वाली कहा है। स्त्रियाँ वीरता में पुरुषों से किसी प्रकार हीन नहीं होतीं।

अर्जुन माली की स्त्री का नाम बन्धुमती था। उस दिन नगर में बड़ा उत्सव था। अतएव पति-पत्नी दोनों, कुछ रात रहते ही फूल चुनने के लिए बगीचे में जा चुके थे।

इसी नगर में ललित गोष्ठी के छह जवान लड़के बड़े गुंडे थे। इन्होंने पहले कोई ऐसा काम कर दिखाया था कि राजा इनके प्रति कृतज्ञ-से थे। अब वे भला-बुरा कोई भी काम करें, उन्हें कोई रोकने वाला नहीं था। उनकी धाक नगर भर में जम गई थी, अतएव किसी को बोलने का साहस भी नहीं होता था। यह गुंडे अपनी धाक का अत्यन्त अनुचित उपयोग करने लगे। उस दिन यह युवक अर्जुन माली के बगीचे में पहुँचे। यह लोग अर्जुन माली के पहुँचने से पहले ही वहाँ जा धमके थे। जब अर्जुन ने अपनी स्त्री के साथ बगीचे में प्रवेश किया, तब इनमें से एक की दृष्टि उसकी स्त्री पर पड़ी। उसे देखते ही उनके हृदय में दुर्वासना उत्पन्न हुई और वे किवाड़ों के पीछे छिप गये। जब अर्जुन माली अपनी स्त्री सहित यक्ष को वन्दन करने लगा तभी उन्होंने उसे पकड़कर बाँध लिया।

इन पापियों ने अर्जुन माली के सामने ही उसकी स्त्री का सतीत्व भंग किया। स्त्री कुछ न बोली। जो स्त्री अपने सतीत्व को

हीरे से बढ़कर समझती है, उसकी आँखों में तेज का ऐसा प्रकृष्ट पुंज विद्यमान रहता है कि उसका सामना होते ही पापी की निर्बल आत्मा थर-थर काँपने लगती है। पर खेद, इस स्त्री ने अपने सतीत्व का जरा भी मूल्य न समझा।

अपनी आँखों के आगे, अपनी पत्नी का यह व्यवहार देखकर अर्जुन माली क्रोध से तिलमिला उठा। उसका समस्त शरीर गुस्से से जलने लगा। असह्य क्रोध से वह अपना सिर धुनने लगा। पर वह विवश था—बन्धनों में जकड़ा हुआ।

यह घटना यक्ष के मन्दिर पर घटी थी। अर्जुन माली इस यक्ष का बड़ा भक्त था। उसके पूर्वज भी यक्ष की पूजा करते आये थे। आज अर्जुन माली ने यक्ष से प्रार्थना की—'हे यक्ष ! हम तुम्हें कई पीढ़ियों से पूजते आते हैं। क्या उसका प्रतिफल मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा ? इस महान् संकट-काल में भी तुम मेरी मदद न करोगे ? अगर अब काम न आये, तो कब आओगे ?

अर्जुन माली के हृदय की पुकार यक्ष ने सुनी। वह प्रकट हुआ और अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट हो गया। उसके बंधन तड़ातड़ तड़क गये। यक्ष की मूर्ति के साथ में एक बड़ा भारी मुद्गर था। अर्जुन माली ने बंधनमुक्त होते ही मुद्गर उठाया और उन छहों मदोन्मत्त युवकों को और अपनी स्त्री को यमलोक पहुँचा दिया। पाप का घड़ा फूट पड़ा।

शरीर में यक्ष के प्रवेश से अर्जुन माली में अपार बल आ गया था। वह क्रोध से पागल हो उठा। जिस नगर-निवासी पर उसकी दृष्टि पड़ती थी, उसी को बिना मारे वह नहीं रहता था। उसके मन में यह संस्कार सुदृढ़ हो गया था कि इन युवकों को सांड बनाने वाले यह नगरनिवासी ही हैं। यह लोग उन्हें आसमान पर न चढ़ाते तो उनकी क्या मजाल थी कि वे इतना अत्याचार, अनाचार करते ?

अर्जुन माली के इस राक्षसी व्यवहार की खबर बिजली की तरह सारे राजगृह में फैल गई। राजा श्रेणिक के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। श्रेणिक ने शहर के बाहर न निकलने की आज्ञा घोषित कर दी। यह आज्ञा भंग करने पर अगर अर्जुन माली किसी का वध कर डाले तो हमारा उत्तरदायित्व नहीं है, यह भी सर्वसाधारण को सूचित कर दिया।

राजा की और नगर-निवासियों की कितनी कायरता है? इस कायरता ने ही उनके दुःखों की वृद्धि की। अगर उन्होंने कायरता न दिखाई होती और बहादुरी से योग्य प्रतीकार किया होता तो उन्हें इतनी मुसीबत न उठानी पड़ती। पर प्रकृति यहाँ तो कुछ और ही खेल दिखाना चाहती थी। सुदर्शन की भक्ति की शक्ति का परिचय कराना था।

पाँच महीने से कुछ अधिक समय तक अर्जुन माली नागरिकों को कष्ट पहुँचाता रहा। यह उनकी कायरता का प्रायश्चित्त था।

संयोगवश इसी समय भगवान महावीर स्वामी राजगृह नगर के बाहर एक उद्यान में पधारे। नगर-निवासियों ने भगवान के पधारने का वृत्तान्त सुना, पर अर्जुन माली के भय से कोई बाहर न निकला।

सुदर्शन भगवान का अनन्य भक्त था। उसने भगवान के पधारने का संवाद सुना। उसे बिना भगवान के दर्शन किये चैन नहीं पड़ा। वह प्रभु-दर्शन के लिए माता-पिता की आज्ञा से जाना चाहता था। माता-पिता ने उसे बहुत कुछ समझाया—बेटा! तेरे न जाने से कुछ हानि न होगी। तेरा वहाँ काम क्या अटका है? नगर की चिरैया बाहर नहीं जाती, तो तू ही क्यों जाता है?

लेकिन सुदर्शन डरपोक नहीं था। वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहा और प्रभु के दर्शन के निमित्त घर से निकल पड़ा। नगर की हवेलियों की छतों पर बैठे हुए नर-नारियों के समूह सुदर्शन को देख रहे थे। उनमें से कोई उसे जाने से रोकता था और कोई कहता

था—देखो, इसे मौत लिये जा रही है। शहर का कोई बच्चा तो बाहर नहीं निकलता और यह भगतराज बनने चले हैं! दूसरा कोई कहता—अजी, जाने भी दो, हमारा क्या लिया? बच्चू जाते हैं पर लौटकर नहीं आने के। अर्जुन माली देखेगा तो मुद्गर की मार से चटनी बना डालेगा। तब पता चलेगा, भक्ति कैसी होती है! भगवान तो ज्ञानी हैं। वे घट-घट की बात जानते हैं। घर में बैठा-बैठा वन्दना कर लेता तो क्या वे स्वीकार न करते?

सुदर्शन सब बातें सुनी-अनसुनी करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता था। क्रमशः नगर को पार कर वह और बाहर हो गया। नगर के बाहर अर्जुन मौजूद था। महाविकराल रूप, लाल-लाल आँखें और मुद्गर हाथ में पकड़े हुए वह तैयार था। उसका रूप इतना डरावना था कि नजर पड़ते ही धैर्यवानों की छाती थरथरा उठे! परन्तु वीर सुदर्शन निर्भय होकर आगे बढ़ता चला जाता था।

अर्जुन माली ने दूर से सुदर्शन को देखा तो उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। वह मन में सोचने लगा—अब मिला है शिकार! आने दूं कुछ और निकट तब अपनी प्यास बुझाऊँगा।

सुदर्शन अपनी मस्तानी चाल से चलता जा रहा था। उसकी चाल देखकर अर्जुन माली सोचने लगा—इसकी चाल में इतना घमण्ड छिपा है! जान पड़ता है, बड़ा अकड़बाज है! अरे, इसने मुझे देख लिया है फिर भी इसके पैर ढीले नहीं पड़े। इसके चेहरे पर भय का भाव ही नहीं दिखाई देता! अ...अब इतने निकट आ गया है—फिर भी वही चाल, वही अकड़, वही मस्ती!

अब अर्जुन से न रहा गया। उसने ललकार कर कहा—ओ जाने वाले!

उत्तर में सुदर्शन कुछ न बोला। वह मौन था।

अर्जुन माली मन-ही-मन विचार करने लगा—इसकी मुख-मुद्रा पर जरा भी भय का आभास नहीं! पहले तो कोई ऐसा नहीं मिला।

जो सामने आते थे वही गिड़गिड़ाकर प्राणों की भीख मांगने लगते थे, पर यह तो अद्भुत व्यक्ति है !

अर्जुन माली ने रास्ता रोक दिया।

सुदर्शन ने भीषण संकट आया देखा तो उसी समय भूमि का प्रमार्जन किया, आसन बिछाया और भगवान को वन्दना करके १८ पापों का परित्याग किया। उसने प्रतिज्ञा की—यदि मैं इस संकट से बच जाऊँगा तो मेरी जैसी पूर्व क्रिया है, वैसी ही रखूंगा। इस संकट से पार न हो सका तो अब से महाव्रत धारण करता हूँ।

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

संसार में निर्बलों के सच्चे बल राम ही हैं। इस बल के सामने तलवार का बल नगण्य—नाचीज बन जाता है।

सुदर्शन ने अहंकार त्याग दिया। वह पाषण-मूर्ति की भांति होकर ध्यान में बैठ गया। यह देखकर अर्जुन माली और भी क्रूर हो गया। प्रहार करने के लिए उसने अपना मुद्गर ऊपर उठाया।

अनेक नगर-निवासी अपने मकानों की छतों से यह दृश्य देख रहे थे। उनमें जो प्रभु के भक्त थे, वे सोच रहे थे— प्रभो ! सत्य की रक्षा करना। सुदर्शन सत्यभक्त है, सत्याग्रही है। इस समय केवल आपका ही सहारा है। कहीं ऐसा न हो कि आपके भक्त की पत जाय !

इससे विपरीत कई क्षुद्राशय पुरुष ऐसे भी थे जिन्हें अपने आपको भविष्यभाषी सिद्ध करने का प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो रहा था ! वे कह रहे थे— देखो, हमने पहले ही कह दिया था कि नहीं ? उसे समझाया था कि मत जा भाई, अर्जुन माली देख पाएगा तो मुद्गर की मार से चूर्ण बना डालेगा ! अब देखो, मुद्गर तानकर सामने अर्जुन माली खड़ा है। सिर पर पड़ने की ही देर है। मेरा कहना कितनी जल्दी सच सिद्ध हो रहा है !

पर यहाँ तो निर्बल का बल राम था। अगर राम (आत्मा) का बल प्रबल न होता तो जगत में सत्य की प्रतिष्ठा किस पर होती ?

धर्म की स्थिरता किस आधार पर होती ?

अर्जुन माली ने मुद्गर उठाया। वह ऊपर उठ तो गया मगर नीचे न आ सका। अर्जुन ने पूरी ताकत लगाई, पर मुद्गर स्तंभित हो गया था। सुदर्शन पर प्रहार न हो सका। अर्जुन तिलमिला उठा, पर विवश था।

इधर सुदर्शन की तरफ देखो। उसकी आँखों से अमृत बरस रहा है!

अर्जुन माली ने तीन बार पूरी शक्ति लगाई। उसके हाथ नीचे की ओर रंचमात्र नहीं झुकते थे। यह अद्भुत अवस्था देखकर अर्जुन माली हैरान था। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा चुका, पर तनिक भी सफलता न मिली। अन्त में वह परास्त हो गया। उसने सुदर्शन की ओर कातर दृष्टि से देखा। सुदर्शन ने भी अपनी सुधामयी दृष्टि से उसे देखा। जैसे ही उस पर सुदर्शन की नजर पड़ी, त्यों ही यक्ष उसके शरीर से निकलकर भाग गया। अर्जुन माली अशक्त होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।

अर्जुन माली की यह अवस्था देख सुदर्शन ने अपनी निश्चलता भंग की। वह उठा और अर्जुन के पास जाकर, उसके शरीर पर स्नेहपूर्ण हाथ फेरकर बोला—भाई, तुम्हें कष्ट हो रहा है! जी अच्छा तो है न ?

अर्जुन—तुम कौन हो ?

सुदर्शन—मैं श्रमणोपासक हूँ।

साधुओ और साध्वियो, आपके उपासक शिष्य भी पहले कैसे होते थे ? आपके शिष्यों में ऐसी शक्ति हो तो आपमें कितनी होनी चाहिए ? आज हम साधु इतना उपदेश देते हैं पर जितनी सफलता मिलनी चाहिए—श्रोताओं पर जितना गहरा प्रभाव पड़ना चाहिए, उतनी सफलता नहीं मिलती—उतना प्रभाव पड़ता दृष्टिगोचर नहीं होता। यह हमारे आत्मिक बल की न्यूनता है। जिस दिन हममें

विशिष्ट आत्मज्योति प्रगट हो जायगी, उस दिन हमारे श्रोता शिष्य हमारे इशारे से काम करने लगेंगे। फिर इतने लम्बे भाषण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

मित्रो! सुदर्शन ने अपने राम पर भरोसा रखा, इसी कारण उसे लोकोत्तर विजय मिली। आप सुदेव और सुगुरु पर विश्वास करेंगे तो आपकी आत्मा में भी ऐसी ही दिव्य शक्ति फूट पड़ेगी।

कहते लज्जा आती है कि आप भगवान महावीर के शिष्य होकर कुदेव और कुगुरु को पूजते फिरते हैं! आप भैरों और भोपों के आगे भटकते और सिर रगड़ते हैं। ऐ रोने वालो! कहीं रोने से भी बेटा मिलता है? तुम महावीर के शिष्य हो, तुम में वीरता होनी चाहिए। उस वीरता की जगह तुममें नपुंसकता आ गई है। क्या इसी नपुंसकता के बल पर धर्म को दिपाओगे? तुम अहिंसा के परम सिद्धान्त को मानते हो, फिर भी जहाँ बकरे काटे जाते हैं, अन्य पशुओं का क्रूरतापूर्वक वध किया जाता है, मदिरा की बोतलें उड़ेली जाती हैं, वहाँ जाकर शीश झुकाते हो? शर्म!

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है— जो देवताओं को पूजते हैं वे देवों के पास और भूतों को पूजने वाले भूतों के पास जाते हैं।

सुदर्शन को सच्चा उपदेश लगा था। उसने देव की आराधना की थी और अर्जुन माली ने यक्ष की। यक्ष की शक्ति तामसी होती है, दुःखजनक होती है। इसके विपरीत देव की शक्ति सात्विक शान्ति और सुखप्रद होती है।

अर्जुन माली की शक्ति सुदर्शन की शक्ति के सामने परास्त हो गई। जनता यह अद्भुत चमत्कार देखकर चकित रह गई। भविष्यवक्ताओं के मुख मलीन-से हो गये और धर्मनिष्ठ पुरुषों के प्रमोद का पार न रहा।

जब भक्तवर सुदर्शन भगवान के दर्शन करने जाने लगा तो अर्जुन माली ने भी दर्शनार्थ चलने की उत्सुकता प्रकट की। सुदर्शन

ने प्रसन्नतापूर्वक उसे अपने साथ लिया। इस अनूठी जोड़ी को देखकर लोग दाँत तले उँगली दवाने लगे। किसी-किसी ने कहा कि—हम तो समझ रहे थे, सुदर्शन चूर-चूर हो जायगा पर अर्जुनमाली तो उसका शिष्य बन गया है !

मित्रो ! सुदर्शन की भाँति पापी मनुष्य को अपनाना सीखो। पापी के पाप का क्षय करने का यही उपाय है। पापी से घृणा करके, उसे अलग रखोगे तो उसके पाप का अन्त आना कठिन है। अगर उसे आत्मीय भाव से ग्रहण करोगे तो उसका सुधार होना सरल होगा। चाहे कोई ढेड़ हो, चमार हो, कसाई हो, कैसा भी पापी क्यों न हो, उसे सम्मान-पूर्वक धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। सुदर्शन के चरित्र से पतितों को दुरदुराने का त्याग करना सीखना चाहिए।

सुदर्शन अर्जुन माली को साथ लेकर प्रभु महावीर के पास आया। सुदर्शन ने विधिपुरस्सर वन्दना-नमस्कार कर भगवान के प्रति अपना भक्तिभाव प्रगट किया। अर्जुन माली ने भी सुदर्शन का अनुकरण किया।

अर्जुन माली को संसार के प्रपंचों से घृणा हो गई थी। भगवान का प्रभावशाली उपदेश सुनकर उसकी वह घृणा अधिक बढ़ गई। वह विरक्त हो गया। उसने महावीर स्वामी से मुनिधर्म की दीक्षा अंगीकार की।

दीक्षित होने के पश्चात्, मुनि के रूप में, अर्जुन माली भिक्षा के निमित्त नगर में आया। अज्ञान जन उसे देखकर क्रोधित होने लगे। कोई कहता—हाय ! इसी दुष्ट ने मेरे पुत्र का घात किया था। इसी प्रकार विभिन्न लोग अपने-अपने सम्बन्धियों का स्मरण कर उसकी भर्त्सना करने लगे। किसी-किसी ने तो उस पर प्रहार भी किये। किसी ने पत्थर मारा, किसी ने घूसा जमाया, किसी ने लकड़ी लगाई, किसी ने केवल गालियाँ देकर ही सन्तोष कर लिया।

मगर अर्जुन माली पर इन सब व्यवहारों का मानो कुछ भी असर नहीं पड़ता था। वह पहले की ही भाँति शान्त और गम्भीर था। जब कोई उसके शरीर पर प्रहार करता तो वह उस दंड को अत्यल्प समझता और सोचता—मैंने इसके सम्बन्धी का वध किया था। उसका यह बदला तो बहुत थोड़ा ले रहा है! यह लोग मुझे बहुत सस्ते में निबटा रहे हैं!

अर्जुन माली ने इसी उत्कृष्ट क्षमा-भावना के साथ शरीर का सदा के लिए त्याग किया और सिद्ध अवस्था प्राप्त की।

मित्रो! इस कथानक को सुनकर आप छह युवकों और सातवीं स्त्री के वध को ही पाप समझते होंगे। भला पाप को पाप कौन न समझेगा? पर महाभारत में मैंने देखा है कि जो पुरुष शक्ति होते हुए भी अपने सामने अपराध होने देता है, जो अपराध का प्रतिकार नहीं करता, वह अपराध करने वाले के समान ही पापी है।

१० : तृष्णा

कपिल श्रावस्तीनरेश के पुरोहित काश्यप का पुत्र था। पुरोहित की मृत्यु के पश्चात् वह विद्याध्ययन के लिए कौशाम्बी गया। वहाँ एक दासी के साथ उसका प्रेम हो गया। दासी की इच्छा पूरी करने के लिए वह राजा द्वारा प्रतिदिन प्रातःकाल दिये जाने वाले दो माशा सोने का दान लेने के लिए रात्रि में ही चल पड़ा। रात्रि में निकलने के कारण सिपाहियों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और सूर्योदय के पश्चात् राजा के समक्ष उपस्थित किया।

कपिल की आकृति और भावभंगी देखकर राजा को लगा कि यह मनुष्य चोर नहीं जान पड़ता।

उधर कपिल मन में सोचने लगा—इस राजा का श्रावस्ती-नरेश के साथ वैर है। जब यह जानेगा कि मैं श्रावस्ती का रहने वाला हूँ तो मुझे अधिक दण्ड देगा। पर कुछ भी क्यों न हो, मैं झूठ हर्गिज नहीं बोलूंगा।

उसी समय राजा ने कपिल से पूछा—कहाँ रहते हो?

कपिल बोला—मैं श्रावस्ती का रहने वाला हूँ।

श्रावस्ती का नाम सुनते ही राजा का वैर-भाव ताजा हो गया। उसने ललाट सिकोड़ते हुए कहा—किसका लड़का है?

कपिल—पुरोहित काश्यप का पुत्र हूँ।

राजा—तब तो तू मेरे शत्रु के मित्र का पुत्र है! अच्छा, यहाँ क्यों आया है?

कपिल—श्रावस्ती के उपाध्याय मुझ पर ईर्षा रखते हैं। कोई

मुझे पढ़ाता नहीं था। अतः अध्ययन करने के लिए यहाँ आया हूँ।

राजा—तो रात्रि के समय बाहर क्यों घूमता-फिरता था ?

कपिल—यह कहानी लम्बी है, फिर भी कहता हूँ। मेरे भोजन की व्यवस्था एक सेठ के घर पर की गई थी। वहाँ एक दासी काम-काज करने के लिए आया करती थी। मैं उसके साथ भ्रष्ट हो गया। वह लोभी थी। उसने मुझसे कहा—त्यौहार आया करते हैं। त्यौहारों के अवसर पर मुझे नये कपड़े चाहिए। आप ला दीजिये। मैंने उससे कहा—मेरे पास धन नहीं है। भोजन भी दूसरे के घर करता हूँ। तुम्हारे लिए कपड़ा कहाँ से लाऊँ ? तब वह बोली—कपड़ा भी लाकर नहीं पहिरा सकते तो मुझसे प्रेम ही नहीं करना था ! लाने की इच्छा हो तो उपाय मैं बता सकती हूँ। मेरे पूछने पर उसने बतलाया—

इस नगरी में एक धन्ना सेठ हैं। प्रातःकाल सब से पहले, उनको जो ब्राह्मण आशीर्वाद देता है, उसे वे दो माशा सोना दान करते हैं। तुम उनके पास जाओ और दो माशा सोना ले आओ।

मैंने यह स्वीकार किया। मुझसे पहले पहुँचकर कोई दूसरा सोना न ले ले, इस विचार से मैं मध्य रात्रि में ही चल पड़ा। रास्ते में मुझे सिपाहियों ने पकड़ लिया। मैं चोरी करने नहीं निकला था।

कपिल की कथा सुनकर राजा का दिल पिघल गया। उसने कहा—यद्यपि तू मेरे शत्रु के मित्र का पुत्र है, फिर भी तूने निखालिश हृदय से सच्ची बात कह दी है। इससे मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हुआ हूँ। तुझे जो चाहिए, वही मुझ से माँग ले। तू माँगने में संकोच न करना, मैं देने में संकोच नहीं करूँगा। जो माँगेगा वही पाएगा।

राजा की यह उदारता देखकर कपिल विचार में पड़ गया—मुझे क्या माँग लेना चाहिए ? पहले बिना विचारे काम किया तो पकड़ा गया। अब खूब सोच-समझकर ही काम करना चाहिए। ऐसा

अवसर भी तो फिर नहीं मिलने का !

कपिल ने राजा से कहा—विचार करने के लिए मुझे दो घड़ी का समय मिलना चाहिए ! मैं यहीं अशोकवाड़ी में जाकर विचार कर लेता हूँ ।

राजा ने विचार करने की मुहलत दे दी। कपिल अशोकवाड़ी में जाकर विचार करने लगा—दो माशा सोना माँगूँगा तो उससे क्या होगा ? उससे तो पूरे कपड़े भी नहीं बन सकेंगे। फिर वह नये कपड़े पहरेगी और मैं चीथड़े लपेटे फिरूँगा !

तो दस माशा सोना ले लूँ ? मगर इससे साधारण पोशाक ही तैयार होगी। राजा-रानी जैसी नहीं बन सकेगी ! और वह भी एक बार बन जायगी। दूसरी बार के लिए फिर कहीं भटकना पड़ेगा ! तो क्यों न राजा-रानी के ही नये कपड़े माँग लूँ ? कदाचित् वे कपड़े दे देंगे, मगर मूल्यवान् कपड़े आभूषणों के बिना क्या सोहेंगे ? इसलिए कपड़ों के साथ आभूषण भी माँग लूँगा।

मगर कमी तो फिर भी रह ही जायगी ! उत्तम राजसी वस्त्र और मणिमय आभूषण पहनकर क्या झोपड़ी में रहना अच्छा लगेगा ? राजा ने मुँह माँगा देने की प्रतिज्ञा की है तो माँगने में कसर क्यों की जाय ? एक महल भी माँग लेने में क्या हर्ज है ?

पर महल में रहकर हाथ से काम करना उचित नहीं होगा। एक-दो नौकर भी चाहिए ही ! किन्तु नौकरों का खर्च कहाँ से लाना होगा ? आखिर वे हर महीने वेतन माँगेंगे !

तो दो-चार गाँव माँग लूँ ? लेकिन इससे भी क्या होगा ? दस-बारह गाँवों के बिना मजे से रहना संभव नहीं हो सकेगा।

जब माँगना ही है और एक ही माँगना है और मुँह माँगा मिलता है तो दस-बारह गाँव माँगना भी क्या ओछापन नहीं है ? फिर आधा ही राज्य क्यों नहीं माँग लेना चाहिए ? मैं सारा राज्य ही माँगूगा।

मगर इसमें भी एक कठिनाई है। सारा राज्य माँग लेने से राजा मेरा वैरी वन जायगा, कदाचित् विद्रोह भी कर दे ! इसलिए राजा को कारागार भी क्यों न माँग लूं ! वस, यही ठीक है।

किन्तु...राजा कारागार में वंद रहेगा और मैं सिंहासन पर बैठूंगा तो लोग क्या कहेंगे ? यही न कि कपिल कितना नीच और कृतघ्न है, जिसने वचनबद्ध हुए राजा का राज्य ले लिया और फिर उसे जेलखाने में डाल दिया ! वास्तव में मैं कितना नीच हूँ कि दो माशा सोने के वदले सम्पूर्ण राज्य मिलने पर भी मेरी लोभवृत्ति शान्त नही हुई ! और मैं वरदान देने वाले राजा को कारागार में वन्द कर देने के लिए तैयार हो गया ! जिस वैभव की कल्पनामात्र से मनुष्य इतना गिर जाता है, उसके मिल जाने पर कितना नहीं गिर जायगा ! हाय ! इस तृष्णा का कहीं अन्त भी है।

इस प्रकार विचारधारा के मुड़ते ही कपिल की आत्मा जाग उठी। उसे उसी समय अवधिज्ञान हो गया। वह अपने पूर्वजन्म को हाथ की रेखा के समान स्पष्ट देखने लगा। एक कथा में ऐसा उल्लेख आता है कि कपिल की भावना होते ही देव ने आकर उसे साधु का वेप प्रदान किया। तत्पश्चात् कपिल राजा के पास पहुँचा। राजा ने कहा—यह क्या किया तुमने ?

कपिल ने सन्तोप के स्वर में कहा—मुझे जो चाहिए था, मिल गया है।

राजा ने कहा—पर साधु का वेष क्यों धारण कर लिया है ?

कपिल—दान माँगने का विचार करते-करते मेरे लोभ का अन्त नहीं आया। आपका सम्पूर्ण राज्य लेकर आपको कारागार में रखने तक का विचार कर लिया। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ। तृष्णा वढ़ती ही चली गई। तव मैंने उसे कम करना शुरू किया। कम करते-करते मैं इस स्थिति में आ पहुँचा हूँ। यह स्थिति प्राप्त करने पर मुझे शान्ति मिली है। मैं दुनिया की और राज्य की खट-पट में

नहीं पड़ना चाहता ।

राजा ने कहा—आप चाहें तो सुख से राज्य करें। मैं लिख देता हूँ कि मैं आजीवन आपका सेवक होकर रहूँगा । शत्रु के आक्रमण करने पर रक्षा करूँगा ।

कपिल—अब राज्य करने का मोह मुझे नहीं रहा। मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ । अगर मैं आपका राज्य माँग लेता तो आप मेरे वैरी बन जाते या नहीं ?

राजा—अवश्य । उस दशा में वैर तो बँधता ही ।

कपिल—परन्तु अब आप स्वयं राज्य दे देना चाहते हैं। यह इस त्याग का ही प्रताप है। जिस त्याग को अपनाते ही राज्य चरणों में लोटने लगा, उस त्याग को राज्य के लिए कैसे त्याग सकता हूँ ?

यह कहकर कपिल मुनि जंगल की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने पाँच सौ नृशंस चोरों को उपदेश देकर सुधारा और अन्त में अनन्त शान्ति प्राप्त की ।

तृष्णा आकाश की भाँति असीम है, आग की तरह अतृप्त है और पिशाच की तरह सर्वभक्षी है ।

११ : महारानी चेलना

मगधसम्राट् श्रेणिक की एक पत्नी का नाम चेलना था। चेलना जैन-धर्म की अनुयायिनी थी और कट्टर अनुयायिनी थी। उस समय तक श्रेणिक ने जैन-धर्म अंगीकार नहीं किया था। यद्यपि राजा और रानी के धार्मिक विचार और आचार एक सरीखे नहीं थे, फिर भी दोनों में हार्दिक स्नेह था। कभी-कभी दोनों में धर्मचर्चा हुआ करती। एक बार श्रेणिक ने किसी जैन मुनि को रास्ते जाते देख चेलना से कहा—देखो, वे जा रहे हैं तुम्हारे गुरु ! नीचा सिर और नीची नजर किये जाते हैं ! कोई गाली दे या मार-पीट दे तो भी चूं नहीं करते। यह तो गनीमत है कि हमारे राज्य में सुव्यवस्था है, कोई किसी को सता नहीं सकता, अन्यथा तुम्हारे गुरुजी की क्या दशा होती ? इतनी कायरता मनुष्य में नहीं होनी चाहिए। मनुष्य को राज्य-सत्ता या किसी दूसरे के बूते पर जीवित नहीं रहना चाहिये। आत्म-रक्षा के लिए जो दूसरों की अपेक्षा रखता है, वह तेजोहीन है, कायर है। कायर गुरु की उपासना करने से तुम में भी कायरता आएगी। हम लोग क्षत्रिय हैं। हमारे गुरु वीर होने चाहिए, जो ढाल और तलवार में लैस होकर घोड़े पर घूमते हों।

रानी चेलना बोली—प्राणनाथ, आपका विचार भ्रमपूर्ण है। मेरे गुरु कायर नहीं, वीर हैं। मैं कायर गुरु की चेली नहीं हूँ। मेरे गुरु की वीरता के आगे आपके समान सौ वीर भी नहीं टिक सकते। आपके बड़े-से-बड़े सेनापति भी काम के गुलाम हैं, परन्तु मेरे गुरु ने उस काम को भी पराजित कर दिया है। संसार के महान-

से-महान वीरों पर भी विजय प्राप्त करने वाले काम को जीत लेना क्या साधारण वीरता है ? यह वीरता सर्वोत्तम वीरता है । जिसमें यह वीरता है उसे आप कायर कैसे कह सकते हैं ?

श्रेणिक—ठीक है, किसी दिन इसका भी उत्तर दिया जायगा।

रानी चेलना श्रेणिक का अभिप्राय समझ गई । उसने सोचा—राजा, गुरुजी की परीक्षा करेंगे । चलो, यह अच्छा ही है । परीक्षा का परिणाम अच्छा ही होगा और महाराज का झुकाव उस ओर अवश्य होगा ।

एक दिन राजा ने किसी सुन्दरी वेश्या को बुलाकर कहा—तू उस साधु के पास जा और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट कर। मेरा यह काम पूरा कर देगी तो मुँह माँगा इनाम पाएगी ।

वेश्या मुफ्त में ही राजा का काम करने के लिए तैयार थी। तिस पर राजा ने इनाम और वह भी मुँह माँगा देने का प्रलोभन दे दिया । फिर वह क्यों पीछे पैर रखती !

वेश्या सिंगार सजकर और दूसरा कामोत्तेजक सामान लेकर रात्रि के समय साधु के स्थान पर पहुँची । साधु ने स्त्री को देखते ही कहा—बहिन, रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियाँ नहीं आ सकतीं । यह किसी गृहस्थ का घर नहीं है । यहाँ साधु टिके हैं ।

वेश्या बोली—आप ठीक कहते हैं । मैं विशेष प्रयोजन से आपके ही पास आई हूँ । मैं आपको कष्ट देने नहीं, बल्कि आपका मनोरंजन करने और आपको आनन्द देने के लिए ही आई हूँ ।

इस प्रकार कहती-कहती वेश्या साधु के स्थान में घुस गई । साधु समझ गये कि इसका आशय दूषित है और यह मुझे भ्रष्ट करना चाहती है । यद्यपि मैं अपने ब्रह्मचर्य व्रत पर दृढ़ रहूँगा, फिर भी जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैंने साधु को भ्रष्ट कर दिया है तो मेरी बात कौन सुनेगा ? इससे शासन की निन्दा होगी।

इस प्रकार विचार कर मुनि ने अपनी लब्धि का प्रयोग किया ।

११ : महारानी चेलना

मगधसम्राट् श्रेणिक की एक पत्नी का नाम चेलना था। चेलना जैन-धर्म की अनुयायिनी थी और कट्टर अनुयायिनी थी। उस समय तक श्रेणिक ने जैन-धर्म अंगीकार नहीं किया था। यद्यपि राजा और रानी के धार्मिक विचार और आचार एक सरीखे नहीं थे, फिर भी दोनों में हार्दिक स्नेह था। कभी-कभी दोनों में धर्मचर्चा हुआ करती। एक बार श्रेणिक ने किसी जैन मुनि को रास्ते जाते देख चेलना से कहा—देखो, वे जा रहे हैं तुम्हारे गुरु ! नीचा सिर और नीची नजर किये जाते हैं ! कोई गाली दे या मार-पीट दे तो भी चूँ नहीं करते। यह तो गनीमत है कि हमारे राज्य में सुव्यवस्था है, कोई किसी को सता नहीं सकता, अन्यथा तुम्हारे गुरुजी की क्या दशा होती ? इतनी कायरता मनुष्य में नहीं होनी चाहिए। मनुष्य को राज्य-सत्ता या किसी दूसरे के बूते पर जीवित नहीं रहना चाहिये। आत्म-रक्षा के लिए जो दूसरों की अपेक्षा रखता है, वह तेजोहीन है, कायर है। कायर गुरु की उपासना करने से तुम में भी कायरता आएगी। हम लोग क्षत्रिय हैं। हमारे गुरु वीर होने चाहिए, जो ढाल और तलवार में लैस होकर घोड़े पर घूमते हों।

रानी चेलना बोली—प्राणनाथ, आपका विचार भ्रमपूर्ण है। मेरे गुरु कायर नहीं, वीर हैं। मैं कायर गुरु की चेली नहीं हूँ। मेरे गुरु की वीरता के आगे आपके समान सौ वीर भी नहीं टिक सकते। आपके बड़े-से-बड़े सेनापति भी काम के गुलाम हैं, परन्तु मेरे गुरु ने उस काम को भी पराजित कर दिया है। संसार के महान-

से-महान वीरों पर भी विजय प्राप्त करने वाले काम को जीत लेना क्या साधारण वीरता है ? यह वीरता सर्वोत्तम वीरता है । जिसमें यह वीरता है उसे आप कायर कैसे कह सकते हैं ?

श्रेणिक—ठीक है, किसी दिन इसका भी उत्तर दिया जायगा।

रानी चेलना श्रेणिक का अभिप्राय समझ गई । उसने सोचा—राजा, गुरुजी की परीक्षा करेंगे । चलो, यह अच्छा ही है । परीक्षा का परिणाम अच्छा ही होगा और महाराज का झुकाव उस ओर अवश्य होगा ।

एक दिन राजा ने किसी सुन्दरी वेश्या को बुलाकर कहा—तू उस साधु के पास जा और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट कर। मेरा यह काम पूरा कर देगी तो मुँह माँगा इनाम पाएगी ।

वेश्या मुफ्त में ही राजा का काम करने के लिए तैयार थी। तिस पर राजा ने इनाम और वह भी मुँह माँगा देने का प्रलोभन दे दिया । फिर वह क्यों पीछे पैर रखती !

वेश्या सिंगार सजकर और दूसरा कामोत्तेजक सामान लेकर रात्रि के समय साधु के स्थान पर पहुँची । साधु ने स्त्री को देखते ही कहा—बहिन, रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियाँ नहीं आ सकतीं । यह किसी गृहस्थ का घर नहीं है । यहाँ साधु टिके हैं ।

वेश्या बोली—आप ठीक कहते हैं । मैं विशेष प्रयोजन से आपके ही पास आई हूँ । मैं आपको कष्ट देने नहीं, बल्कि आपका मनोरंजन करने और आपको आनन्द देने के लिए ही आई हूँ ।

इस प्रकार कहती-कहती वेश्या साधु के स्थान में घुस गई । साधु समझ गये कि इसका आशय दूषित है और यह मुझे भ्रष्ट करना चाहती है । यद्यपि मैं अपने ब्रह्मचर्य व्रत पर दृढ़ रहूँगा, फिर भी जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैंने साधु को भ्रष्ट कर दिया है तो मेरी बात कौन सुनेगा ? इससे शासन की निन्दा होगी ।

इस प्रकार विचार कर मुनि ने अपनी लब्धि का प्रयोग किया ।

उन्होंने अपना विकराल रूप बनाया कि वेश्या देखते ही बुरी तरह घबरा गई ! उसने जमीन पर गिरकर मुनि से प्रार्थना की— दीनानाथ, क्षमा कीजिए । मुझे बचने दीजिए । मैं निरपराध हूँ । मैं राजाजी के कहने से यहाँ आई हूँ । मैं अभी यहाँ से भाग जाती, पर विवश हूँ । बाहर ताला बन्द है । आप मुझ पर दया करें !

उधर राजा श्रेणिक ने चेलना से कहा— तुम अपने गुरु की इतनी प्रशंसा करती थीं, अब उनका हाल तो देखो ! वे एक वेश्या को अपने घर में लिये बैठे हैं !

रानी चेलना ने विस्मित होते हुए कहा— क्या आप सच कह रहे हैं ? मगर जब तक मैं अपनी आँखों यह देख न लूँ, तब तक मान नहीं सकती । वह मुनि अगर दुराचारी होंगे तो मैं उन्हें गुरु नहीं मानूँगी । हम तो सत्य के उपासक हैं । आप जो कहते हैं वह प्रत्यक्ष दिखलाइए ।

आखिर राजा और रानी साधु के स्थान पर पहुँचे और राजा ने दरवाजा खोला । दरवाजा खुलते ही वेश्या ऐसी बाहर भागी जैसे पिंजरा खुलते ही पक्षी बाहर निकल भागता है । उसने निकलते ही राजा से कहा— आप मुझे और चाहे जो काम सौंपें मगर साधु के पास जाने का काम अब न सौंपिएगा । उन महात्मा के तपःतेज में मैं भस्म ही हो गई होती; उन्हींकी दयालुता के कारण प्राण बच गए ।

वेश्या की बात सुनकर रानी चेलना ने राजा से कहा— महाराज, यह वेश्या क्या कह रही है ? इसके कहने का अर्थ तो यही है कि आपने ही इसे यहाँ भेजा था । भले आपनें इसे भेजा हो, मगर मैंने तो पहले ही कह दिया था कि मेरे गुरु को इन्द्राणी भी नहीं डिगा सकती । इस वेश्या के कथन पर विचार कीजिए ।

राजा श्रेणिक शर्मिन्दा हो गए । बोले— वेश्या की बातों का क्या ठिकाना ! अब इस बात को छोड़ो !

रानी बोली— ठीक है । आप भी इस बात को छोड़ दीजिए ।

जो होता है, अच्छा ही होता है। चलिए, उन महात्मा के पास तो चलें।

राजा और रानी महात्मा के पास पहुँचे। देखा, महात्मा दूसरे ही वेष में थे। रानी ने कहा—देखिए, यह मेरे गुरु ही नहीं हैं। मेरे गुरु का वेप ऐसा कहाँ होता है? जैन मुनि को कभी भगवां वस्त्र पहने देखा भी है आपने?

राजा चकित और लज्जित हुआ। उसने सोचा—रानी का कहना ठीक है मुझे धर्म का तत्त्व समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

उसी दिन श्रेणिक के अन्तःकरण में तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। धीरे-धीरे निष्पक्ष अवलोकन और मनन से उसके हृदय पर जैन-धर्म की गहरी छाप लग गई। अन्त में राजा श्रेणिक भगवान महावीर का प्रधान भक्त वन गया।

१२ : हृदय की स्वच्छता

सुनन्द नामक एक चित्रकार था। किसी राजा ने बहुत से चित्रकारों को अपने महल में चित्रकारी के लिए बुलाया। सुनन्द भी वहाँ आया था। राजा ने सर्वश्रेष्ठ चित्रकारी करने वाले को विशिष्ट पारितोषिक प्रदान करने की घोषणा की। सभी चित्रकार पारितोषिक पाने के लिए लालायित हुये। वह लोग पर्दा लगा-लगाकर चित्रका करने लगे। एक दीवाल सुनन्द को भी चित्रकारी के लिए मिल थी। सब चित्रकार अपने-अपने काम में लग गये। सुनन्द ने वह सोच-विचारकर भीत पर बढ़िया पालिश करने की ठानी। रा नियत समय पर चित्रकारी देखने आया। सब चित्रकार अपना का समाप्त कर चुके थे, पर सुनन्द ने अभी तक पालिश ही किया था राजा सब की चित्रकारी देखता हुआ जब सुनन्द वाली दीवाल की ओ आया तो उसे उस पर कुछ भी नजर न आया। राजा ने कहा—अरे सुनन्द, सब चित्रकार अपना-अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं औ तू अभी पालिश ही कर पाया है !

सुनन्द नम्रतापूर्वक बोला—अन्नदाता ! सब ने एक काम किय है, मैंने दो काम किये हैं।

राजा—कैसे दो काम ?

सुनन्द—पृथ्वीनाथ ! इन लोगों ने सिर्फ चित्रकारी की है, पर मैंने ऐसा काम किया है कि दीवाल पर चित्र भी दिखने लगें और जब चाहें तभी उन्हें मिटा भी सकें। इनके चित्रों में यह गुण नहीं है।

राजा का आदेश पाकर सुनन्द ने सामने का पर्दा हटा दिया। सामने की दीवाल पर जो चित्र अंकित किये गये थे, वह सब बढ़िया पालिश की हुई इस दीवाल पर प्रतिबिम्बित होकर दिखाई देने लगे। थोड़ी देर बाद उसने पर्दा डाल दिया तो दीवाल चित्र-रहित स्वच्छ दिखलाई पड़ने लगी। राजा उसकी कुशलता देख बहुत प्रसन्न हुआ और उसे पारितोषिक दिया।

कहने का आशय यह है कि आप अपने हृदय पर ऐसा उत्तम पालिश कीजिये की वह पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाय। उस पर संसार के बिम्ब भले ही पड़ें, परन्तु आत्मा से उनका स्पर्श न हो।

१३ : चर्खा

चर्खा कातकर, सूत पैदा करके उसके कपड़े बनवाने में आप पाप समझते हैं और मैनचेस्टर के कपड़े पहनकर 'पवित्र हो गये' ऐसा मानते हैं। यह आपकी कैसी बुद्धि है कि आप हिंसा को उत्तम और अहिंसा को पाप समझते हैं!

पहले के जमाने में बड़े-बड़े धनाढ्य घरों की स्त्रियाँ चर्खा कातती थीं। चर्खा सिर्फ पैसा पैदा करने की मशीन ही नहीं वरन् एकाग्रता प्राप्त करने का सरल साधन भी था। चर्खा विधवाओं के धर्म की रक्षा करने वाला और भूखों की भूख मिटाने वाला था। चर्खा आधुनिक काल का आविष्कार नहीं, पुरातन काल की स्मृति है। जैनशास्त्रों में भी इसका वर्णन आया है।

इस विषय में एक चरित आया है। वह लम्बा है। अतएव उसका कुछ सार ही कहता हूँ।

कुछ कुमारी बालिकाएँ आँखें मीचकर कोई खेल खेल रही थीं। उन्होंने मन्दिर में यह खेल किया था। उन्होंने आपस में यह निश्चय किया था कि जिसके हाथ में मन्दिर का जो खम्भा आ जाय, वही उसका पति माना जाय। बालिकाएँ खेलने लगीं। संयोगवश आर्द्र-कुमार नामक एक मुनि वहाँ खड़े थे और वह एक बालिका के हाथों में आ गये। आँखें खोलने पर बालिका चौंकी। मुनि चुप-चाप आगे जाने लगे। तब बालिका बोली—नाथ, आप कहाँ पधारते हैं?

मुनि ने उत्तर दिया—बाई, हम अपने ठिकाने जा रहे हैं।

बालिका—मैंने आपको पति-रूप में स्वीकार कर लिया है।

मैं भी आपके ही साथ चलूंगी ।

मुनि—हम मुनि हैं । पति स्वीकार करना हो तो किसी संसारी को स्वीकार करो ।

वालिका—क्या कुलीन कन्या कभी दूसरा पति स्वीकार करती है ?

मुनि मौन हो रहे । वालिका उनके पीछे-पीछे लगी । जहाँ मुनि जाते, वह भी वहीं उनके पीछे लगी रहती ! वालिका की यह दृढ़ता और प्रेम देखकर आखिर मुनि पिघले और वोले—देखो, मैं तुम्हारे साथ विवाह करता हूँ, मगर जीवन भर मैं तुम्हें नहीं निभा सकता । सिर्फ वारह वर्ष तक मैं तुम्हारे साथ रहूँगा । अगर यह वात स्वीकार हो तो ठीक, अन्यथा तुम दूसरा मार्ग खोज लो ।

वालिका—नहीं, नाथ ! आप जैसा कहेंगे, वही करूँगी । आप कितने ही दिन मेरे साथ रहें, पर विवाह तो अन्य पुरुष के साथ मेरा नहीं होगा ।

दोनों का विवाह हो गया । देवों ने इस अवसर पर वारह करोड़ सोनैया (स्वर्ण-मोहर) वरसाये । कुछ समय के वाद एक पुत्र भी उत्पन्न हो गया । दिन जाते क्या देर लगती है ? वारहवाँ वर्ष समाप्त होने आया । अव उस लड़की को जिसका नाम श्रीमती था, खयाल हुआ कि पतिदेव जाने वाले हैं । मैं भी उन्हें रोकना नहीं चाहती । उन्होंने मेरे लिए जो अद्भुत त्याग किया है, वही मेरे लिये वस है । मगर उनके जाने पर मैं अनाथ हो जाऊँगी । अव मेरी रक्षा कौन करेगा ?

श्रीमतीवाई गरीव नहीं थी । पास में विपुल धन था । पुत्र था । रहने के लिये मकान की कमी नहीं थी । पर वह सोचती थी—अभी मैं यौवन अवस्था में हूँ । किसके सहारे अपना समय व्यतीत करूँगी ? मेरे शील की रक्षा कैसे होगी ?

उसे प्रतिज्ञा थी कि मेरे पास जो धन है, उसमें से एक भी

पाई अपने काम में नहीं लूंगी ।

श्रीमती जब विचार में डूबी हुई थी तो उसे अचानक कुछ स्मरण आया । मानो डूबते को सहारा मिल गया । उसने कहा—वाह ! स्वामी, वाह ! खूब कृपा की । बस, अब वह साधन मिल गया, जिसके सहारे अपना यौवनकाल शान्ति से व्यतीत करूँगी ।

आप समझे, श्रीमती को क्या साधन मिल गया था ? चर्खा !

वह सोचती—मुझे ज्यादा खाना होगा तो ज्यादा कातूंगी, मामूली खाना होगा तो मामूली कातूंगी । बस, अब मैं सनाथ हुई । अब हर्षपूर्वक पतिदेव को विदा कर सकूंगी ।

यह कथा बहुत लम्बी है, तात्पर्य यह है कि चर्खा प्राप्त कर श्रीमती ने बड़ी ही शांति के साथ अपना शेष जीवन व्यतीत किया ।

१४ : शान्तिनाथ

उषा प्रातःकाल लालिमा फैलने और उजेला होने को कहते हैं। भगवान शान्तिनाथ का जन्मकाल शान्तिप्रसार का उषाकाल था। इस उषाकाल के दर्शन कब और कैसे हुए, इत्यादि बातें समझाने के लिए शान्तिनाथ भगवान का जन्म-चरित संक्षेप में बतला देना आवश्यक है। जिस प्रकार सूर्योदय की उषा से सूर्य का सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान शान्तिनाथ के उषाकाल से उनका सम्बन्ध है। अतएव उसे जान लेना आवश्यक है।

हस्तिनापुर में महाराज अश्वसेन और महारानी अचला का अखंड राज्य था। हस्तिनापुर नगर अधिकतर राजधानी रहा है। प्राचीनकाल में उसकी बहुत प्रसिद्धि थी। आजकल हस्तिनापुर का स्थान देहली ने ले लिया है।‡

भगवान शान्तिनाथ सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर महारानी अचला के गर्भ में आये। गर्भ में आते समय महारानी अचला ने जो दिव्य स्वप्न देखे, वे सब उस उषाकाल की सूचना देने वाले थे। मानो स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थों में कोई भी स्वार्थी नहीं है। हाथी, वृषभ, सिंह और पुष्पमाला कहते हैं कि आप हमें अपने में स्थान दीजिए। चन्द्रमा और सूर्य निवेदन कर रहे हैं कि हमारी शान्ति और तेज, हे प्रभो! तेरे में ही है।

उग्गए विमले भाणू।

हे प्रभो! हमारे प्रकाश से अंधकार नहीं मिटता है, अतएव

---

‡हस्तिनापुर के परिचय के लिए देखिए, किरण १७ (पांडव-चरित) पृ० ६।

आप ही प्रकाश कीजिए।

उधर फहराती हुई ध्वजा कहती है—मैं तीन लोक की विजय-पताका हूँ। मुझे अपनाइए! मंगलकलश कहता है—मेरा नाम तभी सार्थक है जब आप मुझे ग्रहण कर लें। मानसरोवर कहता है—यह मंगलकलश मेरे से ही बना है। मैं और किसके पास जाऊँ? मैं संसार के मानस का प्रतिनिधि होकर आया हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि तू सब के मानस में प्रवेश कर और उसे उज्ज्वल बना। क्षीरसागर कहता है—यह सरोवर तो छोटा-सा है। लेकिन अगर आप मुझे न धारण करेंगे तो मैं कहाँ रहूँगा? प्रभो! इस संसार को अमृतमय कर दो। संसार मुझसे अतृप्त है, अतः आप उसे तृप्त कीजिए।

इस प्रकार उषाकाल की सूचना देकर भगवान शांतिनाथ सर्वार्थसिद्ध विमान से महारानी अचला के गर्भ में आये। सब देवी-देवताओं ने भगवान से प्रार्थना की—प्रभो! सब लोग अपने-अपने पक्ष में पड़े हुए हैं। आप संसार का उद्धार कीजिये। हमारे सिर पर भी आशीर्वाद का हाथ फेरिये।

लोकोत्तर स्वप्नों ने मानो अचला महारानी को बधाई दी। उसके बाद अचला महारानी के गर्भ में भगवान का आगमन हुआ। क्रमशः गर्भ की वृद्धि होने लगी।

जिन दिनों भगवान शान्तिनाथ गर्भ में थे, उन्हीं दिनों महाराज अश्वसेन के राज्य में महामारी का रोग फैल गया।

प्रश्न हो सकता है कि जब भगवान गर्भ में आये तो रोग क्यों फैला? मगर वह रोग नहीं, उषाकाल की महिमा को प्रकट करने वाला अन्धकार था। जैसे उषाकाल में पहले रात्रि होती है और उस रात्रि से ही उषाकाल की महिमा जानी जाती है, उसी प्रकार वह महामारी भगवान शान्तिनाथ के उषाकाल के पहले की रात्रि थी। उसका निवारण करने के कारण ही भगवान 'शांतिनाथ' पद को प्राप्त हुए।

यद्यपि भगवान गर्भ में आ चुके थे और उस समय रोग फैलना नहीं चाहिए था, फिर भी रोग के फैलने के बाद भगवान के निमित्त से उसकी शांति होने के कारण भगवान की महिमा का प्रकाश हुआ। इससे भगवान के आने की सूचना और भगवान के प्रताप का परिचय उनके माता-पिता को मिल गया।

राज्य में मरी रोग फैलने की सूचना महाराज अश्वसेन को मिली। महाराज ने यह जानकर कि मरी रोग के कारण लोग मर रहे हैं, रोग की उपशांति के अनेक उपाय किये। मगर शांति न हुई।

यह मरी लोगों की कसौटी थी। इसी से पता चलता था कि लोग मार्ग पर हैं या मार्ग भूले हुए हैं। यह मरी शान्ति से पहले होने वाली क्रांति थी।

उपाय करने पर भी शान्ति न होने के कारण महाराज बड़े दुःखी हुए। वह सोचने लगे—जिस प्रजा का मैंने पुत्र के समान पालन किया है, जिसे मैंने अज्ञान से सज्ञान, निर्धन से धनवान और निरुद्योगी से उद्योगवान बनाया है, वह मेरी प्रजा असमय में ही मर रही है! मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ हो रहा है! मेरे राजा रहते प्रजा को कष्ट होना मेरे पाप का कारण है। पहले के राजा, राज्य में दुष्काल पड़ना, रोग फैलना, प्रजा का दुःखी होना आदि अपने पाप का ही फल समझते थे।

रामायण में लिखा है कि एक ब्राह्मण का लड़का बचपन में ही मर गया। ब्राह्मण उस लड़के को लेकर रामचन्द्रजी के पास गया और बोला—आपने क्या पाप किया है कि मेरा लड़का मर गया?

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि पहले के राजा प्रजा के कष्ट का कारण अपना ही पाप समझते थे। इसी भावना के अनुसार महाराज अश्वसेन मरी फैलने को अपना ही दोष मानकर दुःखी हुए। उन्होंने एकान्त में जाकर निश्चय किया कि जब तक प्रजा का दुःख दूर न होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

सुदृढ़ निश्चय में बड़ा बल होता है। भक्त तुकाराम ने कहा है—

निश्चयाचा बल तुका म्हणे तो च फल ।

निश्चय के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती ।

इस प्रकार निश्चय करके महाराज अश्वसेन ध्यान लगाकर बैठ गये। भोजन का समय होने पर महारानी अचला ने दासी को भेजा कि वह महाराज को भोजन करने के लिए बुला लावे। दासी गई, किन्तु महाराज को ध्यानमुद्रा में बैठा देखकर वह सहम गई। भला उसका साहस कैसे हो सकता था कि वह महाराज के ध्यान को भंग करने का प्रयत्न करे ! वह धीमे-धीमे स्वर से पुकार कर लौट गई। उसके बाद दूसरी दासी आई, फिर तीसरी आई, मगर ध्यान भंग करने का किसी को साहस न हुआ। महारानी अचला बार-बार दासियों को भेजने के अपने कृत्य पर पश्चाताप करके कहने लगीं— स्वामी को बुलाने के लिए दासियों का भेजना उचित नहीं था, स्वयं मुझे जाना चाहिए था। यद्यपि मैंने पति से पहले भोजन करने की भूल नहीं की है, लेकिन स्वयं उन्हें बुलाने न जाकर दासियों को भेजने की भूल अवश्य की है।

समय अधिक हो जाने के कारण भोजन ठण्डा अवश्य हो गया था। इस कारण दासियों को दूसरा भोजन बनाने की आज्ञा देकर महारानी अचला स्वयं महाराज अश्वसेन के समीप गईं।

महारानी सोच रही थीं—पत्नी, पति की अर्द्धांगिनी है। उसे पति की चिन्ता का भी भाग बँटाना चाहिए। जो स्त्री पति की प्रसन्नता में भाग लेना चाहती है और चिन्ता में भाग नहीं लेना चाहती, वह आदर्श पत्नी नहीं हो सकती। ऐसी स्त्री पापिनी है।

अचला देवी ने जो विचार किया, क्या वह स्त्री का धर्म नहीं है ? अवश्य। किन्तु आजकल तो बचपन में ही लड़कियों को उलटी शिक्षा दी जाती है। कन्या को ऐसा विनयशील होना आवश्यक है, जिससे गृहस्थावस्था में वह अपने परिवार को शान्ति दे सके

स्वयं शान्ति प्राप्त कर सके और कुटुम्ब-जीवन पूरी तरह आनन्दमय हो सके ।

बीकानेर में लड़कियों को लड़के के वेष में रखने की प्रथा देखी जाती है । मेरी समझ में ही नहीं आता कि ऐसा करने से क्या लाभ है ? पुरुष की पोशाक पहिनने से कोई स्त्री पुरुष तो हो ही नहीं सकती । संभव है, कन्या के माता-पिता उसे लड़के की पोशाक पहनाकर सोचते हों—लड़के की पोशाक पहनाकर हम कन्या की लड़का होने की भावना पूरी कर रहे हैं! मगर ऐसा करनें से क्या हानि होती है, इस बात पर उन्होंने विचार नहीं किया । लड़की को लड़का बनाने का विचार करना प्रकृति से युद्ध करना है । प्रकृति से युद्ध करके कोई विजय नहीं पा सकता । फल यह होता है कि ऐसा करने से लड़की के संस्कार बिगड़ जाते हैं । कोई-कोई बचपन के मूल्य को नहीं समझते । वे बाल्यावस्था को निरर्थक ही मानते हैं । पर बाल्यावस्था में ग्रहण किये हुए संस्कारों के आधार पर ही बालक के सम्पूर्ण जीवन का निर्माण होता है । जिसका बालकपन बिगड़ गया, उसका सारा जीवन बिगड़ गया और जिसका बालकपन सुधर गया, उसका सारा जीवन सुधर गया । किसी कवि ने कहा है—

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् ।

कच्चे घड़े पर बेलबूंटे बना दिये जाते हैं, वे घड़े के पकनें पर भी नहीं मिटते । लेकिन पक्के घड़े पर बनाये बेलबूंटे कायम नहीं रहते । यही बात बाल्यावस्था के विषय में है । अतएव जीवन-निर्माण की दृष्टि से बाल्यावस्था का मूल्य बहुत अधिक है । माता-पिता को यह बात दिल में बिठा लेना चाहिए कि बालक के संस्कार, चाहे वे भले हों या बुरे हों, जीवन भर जाने वाले नहीं हैं अतएव उन्हें बुरे संस्कारों से बचाकर अच्छे संस्कारों से [illegible] करना चाहिए । अगर बालकों को प्रारम्भ से ही [illegible]

और खान-पान से बचाते रहो तो आगे चलकर वे इतने उत्तम बनेंगे कि आपका गृहस्थ-जीवन सुखमय, शांतिमय और संतोषमय बन जायगा।

कविसम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक निबन्ध में लिखा है कि पाँच वर्ष तक के बालक को सिला हुआ कपड़ा पहनाना उसकी वृद्धि में बाधा डालना है। खुले शरीर में जो कांति आ सकती है, वह सिले कपड़ों से बन्द किये हुए शरीर में नहीं आ सकती। चुस्त कपड़ों से बालक के शरीर का विकास भी रुक जाता है। ऐसी स्थिति में यह समझना कठिन नहीं है कि गहनों से भी बालक का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जो बालक 'सोना' शब्द का उच्चारण भी नहीं कर सकता, न सोने को पहिचानता ही है, उसे सोना पहनाने से क्या लाभ है? सोना बालक के प्राणों का ग्राहक भले ही बन सकता है, लाभ तो उससे कुछ भी दिखाई नहीं देता। बालक को जब सिला कपड़ा पहिनाया जाता है तो वह रोने लगता है। वह रोकर मानो कहता है कि मुझे इस बन्धन में मत डालो। मगर कौन बालकों की पुकार सुनता है!

जरा विचार कीजिये कि आप लोग अपने बालकों को नाना-प्रकार के आभूषण और गोटा-किनारी के कपड़े पहिनाये बिना संतोष नहीं मानते, मगर अंग्रेजों के कितने लड़कों को आपने गहने पहिने देखा है?

आप बालकों को बचपन से ही ऐसी विकारयुक्त रुचि का बना देते हैं कि आगे चलकर उनकी रुचि का सुधरना कठिन हो जाता है। बड़े होने पर कदाचित् उन्हें गहने न मिलें तो वे दुःख का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि ही विकृत हो जाती है। उनका जीवन दुःखमय बन जाता है। माता-पिता को तो चाहिए कि वे बालक को सादगी और स्वच्छता का सबक सिखावें, जिससे उनका अगला जीवन सुख और संतोष के साथ व्यतीत हो सके।

बहुत से लोग लड़कों पर अच्छा भाव रखते हैं परन्तु लड़कियाँ उन्हें आफत की पुड़ियाँ मालूम होती हैं। लड़का उत्पन्न होने पर वे प्रसन्न होते हैं और लड़की के जन्म पर मातम-सा मानते हैं—उदास हो जाते हैं। फिर उसके पालन-पोषण में भी ऐसी लापरवाही की जाती है कि लड़की अपने भाग्य से ही बड़ी हो पाती है। लड़की बड़ी हो जाती है तो उसके शिक्षण का वैसा प्रबन्ध नहीं किया जाता जैसा लड़के का! लेकिन उसे लड़के के वेष में रखा जाता है, जिससे उसका नम्रता का गुण कम हो जाता है।

जहाँ इस प्रकार का पक्षपात हो, समझना चाहिए कि वहाँ भगवान शांतिनाथ के समझने का प्रयत्न ही नहीं किया गया है। इसलिए मैं कहता हूँ कि पक्षपात को दूर करो। यह पक्षपात गृहस्थ-जीवन का घोर अभिशाप है। लड़कियों के विरुद्ध किया जाने वाला ऐसा पक्षपात अत्यन्त भयंकर परिणाम पैदा करने वाला है। किसी नवयुवती कन्या को बूढ़े के साथ व्याह देना क्या कम अत्याचार है? पैसे के लोभ में आकर अपनी कन्या के साथ ऐसा निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने वाले लोग किस प्रकार भगवान शांतिनाथ की उपासना कर सकते हैं? अपनी ही सन्तान को जो लोग अशांति की आग में झौंकते नहीं हिचकते, उन्हें किस प्रकार शांति मिल सकती है? अगर आप सच्ची शान्ति चाहते हैं तो अपने समग्र जीवन-क्रम का विचार करें और उसमें अशान्ति पैदा करने वाले जितने अंश हैं, उन्हें हटा दें। इससे आपका परिवार, समाज और देश शान्ति प्राप्त करेगा। ऐसा करने पर ही भगवान शान्तिनाथ की आराधना हो सकेगी।

कन्या के बदले-पैसे लेने वाले का कभी भला नहीं होता। मैं अपनी आँखों देखी बात कहता हूँ। एक आदमी के पाँच लड़कियाँ थीं और एक लड़का था। लड़कियों के उसने मन-चाहे रुपये लिये।

यही नहीं वरन् किसी-किसी लड़की की सगाई एक जगह करके छोड़ दी और फिर दूसरी जगह की। इतना करने पर भी उसकी दरिद्रता दूर नहीं हुई और न उसके लड़के का ही विवाह हुआ। उसके वंश का नाश हो गया।

मतलब यह है कि प्रकृति के नियमों को तोड़कर रुपये के लोभ में पड़कर नवयुवती कन्या को बूढ़े के हवाले कर देना या अयोग्य धनवान को लड़की देकर योग्य धनहीन को वंचित रखना योग्य नहीं है। भगवान ने तो दासी बेचने को भी बड़ा पाप कहा है, फिर कन्या को बेच देना कितना बड़ा पाप न होगा!

महारानी अचला को बाल्यावस्था से ही सुन्दर संस्कार मिले थे। वह अपने पत्नीधर्म को भली-भांति समझती थीं। इस कारण वह भोजन किये बिना ही महाराज अश्वसेन के समीप पहुँची। वहाँ जाकर देखा कि महाराज अश्वसेन गंभीर मुद्रा धारण करके ध्यान में लीन हैं। महारानी ने हाथ जोड़कर धीमे और मधुर किन्तु गंभीर स्वर में महाराज का ध्यान भंग करने का प्रयत्न किया। महारानी का गम्भीर स्वर सुनकर महाराज का ध्यान टूटा। उन्होंने आँख खोलकर देखा तो सामने महारानी हाथ जोड़ खड़ी नजर आई। महाराज ने इस प्रकार खड़ी रहने और ध्यान भंग करने का कारण पूछा। महारानी ने कहा—आप आज अभी तक भोजन करने नहीं पधारे। इसका क्या कारण है?

महाराज सोचने लगे—जिस उपद्रव को मैं दूर नहीं कर सकता, उसे महारानी स्त्री होकर कैसे दूर कर सकती है? फिर अपनी चिन्ता का कारण कहकर इन्हें दुःखी करने से क्या लाभ है? इस प्रकार विचार कर वह चुप ही रहे। कुछ न बोले।

पति को मौन देख महारानी ने कहा—जान पड़ता है, आप किसी ऐसी चिन्ता में डूबे हैं, जिसे सुनने के लिए मैं अयोग्य हूँ। संभवतः इसी कारण आप बात छिपा रहे हैं। यदि मेरा अनुमान

सत्य है तो आज्ञा दीजिए कि मैं यहाँ से टल जाऊँ ! ऐसा न हो तो कृपया अपनी चिन्ता का कारण बतलाइए । आपकी पत्नी होने के कारण आपके हर्ष-शोक में समान रूप से भाग लेना मेरा कर्तव्य है।

महाराज अश्वसेन ने कहा—मेरे पास कोई चीज नहीं है जो तुम से छिपाने योग्य हो । मैं ऐसा पति नहीं कि अपनी पत्नी से किसी प्रकार का दुराव रखूँ । मगर मैं सोचता हूँ कि मेरी चिन्ता का कारण सुन लेने से मेरी चिन्ता तो दूर होगी नहीं, तुम्हें भी चिन्ता हो जायगी । इससे क्या लाभ होगा ?

महारानी—अगर बात कहने से दुःख नहीं मिटेगा तो उदास होने से भी नहीं मिटेगा । इस समय सारा दुःख आप उठा रहे हैं, लेकिन जब आप, अपनी इस अर्द्धांगिनी से दुःख का कारण कह देंगे तो आपका आधा दुःख कम हो जायगा ।

महाराज—तुम्हारी इच्छा है तो सुन लो । इस समय सारी प्रजा महामारी की बीमारी से पीड़ित है । मुझसे ही कोई अपराध बन गया है, जिसके कारण प्रजा को कष्ट भुगतना पड़ रहा है । ऐसा न होता तो मेरे सामने प्रजा क्यों दुःखी होती ?

महारानी—जिस पाप के कारण प्रजा दुःख पा रही है, वह आपका ही नहीं है, मेरा भी है ।

महारानी की यह बात सुनकर महाराज को आश्चर्य हुआ । फिर उन्होंने कुछ सोचकर कहा—ठीक है । आप प्रजा की माता हैं । आपका ऐसा सोचना ठीक ही है । मगर विचारणीय बात तो यह है कि वह दुःख किस प्रकार दूर किया जाय ?

महारानी—पहले आप भोजन कर लीजिए । कोई-न-कोई उपाय निकलेगा ही ।

महाराज—मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि जब तक प्रजा का दुःख दूर न होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा ।

महारानी—जिस नरेश में इतनी दृढ़ता है, जो प्रजाहित

लिए आत्मबलिदान करने को उद्यत है, उसकी प्रजा कदापि दुःखी नहीं रह सकती। लेकिन जब तक आप भोजन नहीं कर लेते, मैं भी भोजन नहीं कर सकती।

महाराज—तुम अगर स्वतन्त्र होतीं और भोजन न करतीं, तब तो कोई बात ही नहीं थी। लेकिन तुम गर्भवती हो। तुम्हारे भूखे रहने से गर्भ को भी भूखा रहना होगा और यह अत्यन्त ही अनुचित होगा।

गर्भ की याद आते ही अचला महारानी ने कहा—नाथ अब मैं महामारी के मिटाने का उपाय समझ गई। यह महामा[री] उषा के पूर्व का अन्धकार है। मैं इसे मिटाने का उपाय करती हूँ

महारानी अचला महल के उपर चढ़ गईं और अमृत-दृ[ष्टि] से चारों ओर देखकर कहने लगीं—प्रभो! यदि यह महामारी शान्त न हुई तो पति जीवित नहीं रहेंगे। पति के जीवित न रह[ने] पर मैं भी जीवित नहीं रह सकूँगी और इस प्रकार यह गर्भ भी नष्ट हो जायगा। इसलिए हे महामारी! मेरे पति के लिए, मेरे लिए और इस गर्भ के लिए इस राज्य को शीघ्र छोड़ दो।

उषा के आगे अंधकार कैसे ठहर सकता है? महारानी के चारों ओर देखते ही महामारी हट गई। उसके बाद महाराज अश्वसेन को सूचना मिली कि राज्य में शान्ति हो गई है। महाराज आश्चर्यचकित रह गए। वे महारानी के महल में आये। मालूम हुआ कि वे महल के ऊपर हैं। महाराज वहीं पहुँचे। उन्होंने देखा कि अचला महारानी अचल ध्यान में खड़ी हैं। चारों ओर अपनी दिव्य दृष्टि फिराती हैं, किन्तु मन को नहीं फिरने देतीं।

महाराज अश्वसेन ने थोड़ी देर यह दृश्य देखा। उसके बाद स्नेह की गम्भीरता के साथ कहा—देवी, शान्त होओ!

पति को आया जान महारानी ने उनका सत्कार किया। महाराज ने अतिशय संतोष और प्रेम के साथ कहा—समय में नहीं

आया कि तुम रानी हो या देवी ? तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है । तुम्हारे होने से ही मेरा बड़प्पन है । तुम्हारी मौजूदगी से ही मेरा कल्याण-मंगल हुआ । तुमने देश में शान्ति का प्रसार करके प्रजा के और मेरे प्राणों की रक्षा की है ।

पति के मुख से अपनी अलंकारमय प्रशंसा सुनकर रानी कुछ लज्जित हुई । फिर रानी ने कहा—नाथ ! यह अलंकार मुझे शोभा नहीं देते । ये इतने भारी हैं कि मैं इनका बोझ नहीं उठा सकती । मुझमें इतनी शक्ति कहाँ है, जितनी आप कह रहे हैं ? थोड़ी-सी शक्ति हो भी तो वह आपकी ही शक्ति है । कांच की हंडी में दीपक रखने पर जो प्रकाश होता है वह कांच की हंडी का नहीं, दीपक का ही है । इसलिए आपने प्रशंसा के जो अलंकार मुझे प्रदान किये हैं, उन्हें आभार के साथ मैं आपको ही समर्पित करती हूँ। आप ही इनके योग्य हैं । आप ही इन्हें धारण कीजिए ।

महाराज—रानी, यह भी तुम्हारा एक गुण है कि तुम्हें अपनी शक्ति की खबर ही नहीं ! वास्तव में जो अपनी शक्ति का घमण्ड नहीं करता, वही शक्तिमान होता है । जो शक्ति का अभिमान करता है, उसमें शक्ति रहती ही नहीं बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी और वीरों की यही आदत होती है कि वे अपनी शक्ति की खबर भी नहीं रखते । मैंने तुम्हें जो अलंकार दिये हैं उन्हें तुम मेरे लिए लौटा रही हो, किन्तु पुरुष होने के कारण मैं उन्हें पहिन नहीं सकता । साथ ही मुझे ख्याल आता है कि वह शक्ति न तुम्हारी है, न हमारी है । हमारी और तुम्हारी भावना पूरी करने वाले त्रिलोकीनाथ का ही यह प्रताप है । वह नाथ, जन्म धारण करके सारे संसार को सनाथ करेगा । आज के इस चमत्कार को देखते हुए, इन अलंकारों को गर्भस्थ प्रभु के लिए सुरक्षित रहने दो । जन्म होने पर इनका 'शांतिनाथ' नाम रखेंगे । 'शांतिनाथ' नाम एक सिद्ध मन्त्र होगा, जिसे सारा संसार जपेगा और शांति-लाभ करेगा । देवी, तुम कृतार्थ

है कि संसार को शांति देने वाले शांतिनाथ तुम्हारे पुत्र होंगे।

रानी—नाथ, आपने यथार्थ कहा। वास्तव में बात यही है। अपनी शक्ति नहीं, उसी की शक्ति है! उसी का प्रताप है, जिसे मैंने गर्भ में धारण किया है।

प्रार्थना में कहा गया है—

अश्वसेन नृप अचला पटरानी,
तस सुत कुलसिंगार हो सुभागी।
जन्मत शांति थई निज देश में,
मिरगी मार निवार हो सुभागी॥

इस प्रकार शांतिनाथ भगवान रूपी सूर्य के जन्म धारण करने से पहले होने वाली उषा का चमत्कार आपने देख लिया! अब शान्तिनाथ-सूर्य के उदय होने का वृत्तान्त कहना है। मगर समय कम होने के कारण थोड़े ही शब्दों में कहता हूँ।

शान्तिनाथ भगवान को गर्भ में रहने या जन्म धारण करने के कारण आप वन्दना नहीं करते हैं। वे इस कारण वन्दनीय हैं कि उन्होंने दीक्षा धारण करके, केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

भगवान शांतिनाथ ने लम्बे काल तक संसार में रहकर अद्वितीय काम कर दिखाया। उन्होंने स्वयं राज्य करके राज्य करने का आदर्श जनता के समक्ष उपस्थित किया। राज्य करके उन्होंने अहंकार नहीं सिखलाया। उनमें ऐसी-ऐसी अलौकिक शक्तियाँ थीं कि जिनकी कल्पना भी हमारे हृदय में आश्चर्य उत्पन्न करती है। लेकिन उन्होंने ऐसी शक्तियों का कभी प्रयोग नहीं किया। माता अपने बालकों को कामधेनु का दूध पिलाकर तृप्त कर सकती हो तो भी उसे अपना दूध पिलाने में जिस सुख का अनुभव होता है, कामधेनु का दूध पिलाने में वह सुख कहाँ? इसी प्रकार शांतिनाथ शक्ति का प्रयोग कर सकते थे, परन्तु उन्हें शान्ति और प्रेम से काम लेने में ही आनन्द आता था।

१५ : चेड़ा-कोणिक का युद्ध

श्रावक अपराधी को मारने का त्यागी नहीं होता। लोग कहते हैं कि अहिंसा का पालन करने से कायरता आती है। परन्तु ऐसा कहना भूल है। जान पड़ता है, यह भ्रमपूर्ण मान्यता कुछ जैन नामधारी लोगों के कायरतापूर्ण व्यवहार से ही प्रचलित हो गई है। जैनधर्म गृहस्थ के लिए यह नहीं कहता कि गृहस्थ अपराधी को मारने का भी त्याग करे। गृहस्थ के लिए जैनधर्म ने अपराधी को मारना निषिद्ध नहीं ठहराया है और न अपराधी को दण्ड देने वाले को अधर्मी ही कहा है! यह वात स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—

जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर अराजकता फैलती ज रही थी और शक्तिशाली लोग अशक्तों को सता रहे थे, उस सम नौ लिच्छवी और नौ मल्ली नामक अठारह राजाओं ने मिलकर ए गण-संघ की स्थापना की थी। इस गण-संघ-का उद्देश्य सबलों द्वार पीड़ित निर्बलों की रक्षा करना था। गण-संघ के अठारह गणराजाअं का गणनायक (President) चेटक राजा था। राजा चेटक या चेड़ भगवान महावीर का पूर्ण भक्त था।

सशक्त लोगों से निर्बलों की रक्षा करने के लिए ही गण-संघ की स्थापना की गई थी। जिस समय की यह घटना है उस समय चम्पा नगरी में कोणिक राजा राज्य करता था। कोणिक राजा श्रेणिक का पुत्र था। कोणिक के वारह भाई थे, जिनमें सव से छोटे भाई का नाम वहिलकुमार था। वहिलकुमार के पास एक कीमती हार

और एक हाथी था। यह हार और हाथी उसके पिता ने उसे पुरस्कार दिया था। वहिलकुमार को राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला था। उसने हार और हाथी पाकर ही सन्तोष मान लिया था।

वहिलकुमार हाथी पर सवार होकर आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता था। लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहते थे—राज्य के रत्नों का उपभोग तो वहिलकुमार ही करते हैं। कोणिक के लिए तो केवल राज्य का भार ही है!

लोगों का यह कथन कोणिक की रानी पद्मा के कानों तक पहुँचा। रानी ने विचार किया—किसी भी उपाय से वह हार और हाथी राज्य में मँगाना चाहिए। यह सोचकर रानी ने कोणिक से कहा—नाथ! राजा आप हैं मगर राज्य के रत्नों का—हार और हाथी का—उपभोग वहिलकुमार करता है। तुम्हारे पास तो केवल निस्सार राज्य ही है!

कोणिक ने कहा—स्त्रियों की बुद्धि बहुत ओछी होती है। इसी कारण तू ऐसा कहती है। वहिलकुमार के पास तो सिर्फ हार और हाथी है, मगर मैं तो सारे राज्य का स्वामी हूँ। इसके अतिरिक्त वहिलकुमार के पास हार और हाथी है तो कोई गैर के पास थोड़े ही है! आखिर है तो मेरे भाई के पास ही न?

रानी पद्मा ने सोचा—मेरी यह युक्ति काम नहीं आई। अब दूसरा कोई उपाय काम में लाना चाहिए। यह सोचकर उसने कोणिक से कहा—तुम्हें अपने भाई पर इतना अधिक विश्वास है, यह मुझे नहीं मालूम था। तुम्हें इतना विश्वास है, यह अच्छा ही है। मगर एक बार अपने विश्वासपात्र भाई की परीक्षा तो कर देखो कि उन्हें तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है और तुम्हारे विश्वास पर वह हार तथा हाथी भेजता है या नहीं?

कोणिक को यह बात पसन्द आ गई। उसने वहिलकुमार के पास संदेशा भिजवा दिया—इतने दिनों तक हार और हाथी का उप-

भोग तुमने किया है। अब कुछ दिनों तक हमें उपभोग करने दो।

यह सन्देश पाकर वहिलकुमार ने सोचा—अब कोणिक की नजर हार और हाथी पर पड़ी है। वह प्रत्येक उपाय से हार और हाथी को हस्तगत करने की चेष्टा करेगा। मुझे राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला। फिर भी मैंने हार-हाथी पाकर ही सन्तोष मान लिया। अब यह भी जाने की तैयारी में हैं !

इस प्रकार विचार कर और हार तथा हाथी को बचाने के लिए बहिलकुमार रात्रि के समय निकल पड़ा और अपने नाना राजा चेटक की शरण में जा पहुँचा। वहिलकुमार ने राजा चेटक को सारी कथा कह सुनाई। चेटक ने सम्पूर्ण घटना सुनकर बहिलकुमार से कहा—तुम्हारी बात ठीक है। राजा चेटक ने उसे अपने यहाँ आश्रय दिया।

वहिलकुमार हार और हाथी लेकर बाहर चला गया है, यह समाचार सुनते ही पद्मा रानी को कोणिक के कान भरने के लिए पूरी सामग्री मिल गई। वह कोणिक के पास जाकर कहने लगी—तुम जिसे भाई-भाई कहकर ऊँचा चढ़ाते थे, उसकी करतूत देख ली न ! तुम्हारे भाई को तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है। उसने हार और हाथी नहीं भेजा। इतना ही नहीं, कदाचित् तुम जबर्दस्ती हार, हाथी लूट लोगे, इस भय से वह अपने नाना की शरण में भाग गया है। वहाँ जाने की कोई खबर भी उसने तुम्हारे पास नहीं भेजी। अब मैं देखती हूँ कि तुम क्या करते हो और हार तथा हाथी प्राप्त करने के लिए कैसी वीरता दिखाते हो !

इस प्रकार की उत्तेजनापूर्ण बातें कहकर पद्मा ने कोणिक को खूब भड़काया। पद्मा की यह बातें सुनकर कोणिक को भी क्रोध आ गया। वह कहने लगा—मैं चेड़ा राजा के पास अभी दूत भेजता हूँ। अगर चेड़ा राजा बुद्धिमान होगा तो बहिलकुमार को हार और हाथी के साथ मेरे पास भेज देगा।

कोणिक का दूत राजा चेटक के पास पहुँचा। दूत का कथन सुनकर चेटक ने उत्तर में कहला दिया—मेरे लिए तो कोणिक और

वहिलकुमार दोनों सरीखे हैं। परन्तु जैसे कोणिक ने अपने दस भाइयों को राज्य में हिस्सा दिया है, उसी प्रकार वहिलकुमार को भी हिस्सा दिया जाय अथवा हार और हाथी रखने का अधिकार उसे दिया जाय।

चेटक का यह उत्तर न्यायदृष्टि से ठीक था। मगर सत्ता के सामने न्याय-अन्याय कौन देखता है! जिसके हाथ में सत्ता है, वह तो यह कहता है कि हमारा वाक्य न्याय है और जिधर हम उँगली उठावें उधर ही पूर्व दिशा है।

चेटक का उत्तर सुनकर कोणिक ने फिर कहला भेजा--हम राजा हैं। रत्नों पर राजा का ही अधिकार होता है। तुम्हें हमारे बीच में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम वहिल्कुमार को मेरे पास भेज दो। हम भाई-भाई आपस में निबट लेंगे।

दूत ने चेटक के पास पहुँचकर कोणिक का सन्देश सुनाया। कोणिक ने अपने सन्देश में राज्य का हिस्सा देने के विषय में कुछ भी नहीं कहलाया था। अतएव चेटक ने यही प्रत्युत्तर दिया—अगर कोणिक वहिलकुमार को राज्य में हिस्सा देने को तैयार हो, तब तो ठीक है। मगर उसने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहलाया। ऐसी स्थिति में वहिल्कुमार को कैसे भेज सकता हूँ? सबलों से निर्बलों की रक्षा करना तो हमारी प्रतिज्ञा है।

दूत फिर चम्पा नगरी लौट गया और चेटक का उत्तर कोणिक से कह दिया। कोणिक को अपनी शक्ति का अभिमान था। उसने राजा चेटक को कहला दिया—या तो वहिलकुमार को हार, हाथी के साथ मेरे पास भेज दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

चेटक राजा ने अपने गण-संघ के सब सदस्यों को एकत्र किया और सम्पूर्ण घटना से परिचित किया। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए, इस विषय में उनकी सम्मति पूछी। आगे-पीछे का विचार करने के बाद सभी राजा इस निर्णय पर पहुँचे कि क्षत्रिय होने के नाते सबलों द्वारा सताये जाने वाले निर्बलों की रक्षा करना हमारा धर्म है। अपने

गणसंघ का उद्देश्य भी निर्बलों की रक्षा करना है। वहिलकुमार न्याय के पथ पर है। न्यायदृष्टि से उसे कोणिक के पास भेज देना उचित नहीं है। युद्ध करके शरणागत की रक्षा करना ही हम लोगों का कर्तव्य है

गणराजा अपने धर्म का पालन करने के लिए अपने प्राण तक देने पर उतारू हो गये। परन्तु तुम लोग धर्म की रक्षा के लिए कुछ करते हो ? क्या तुम धर्म की रक्षा के लिए थोड़ा-सा भी स्वार्थ त्याग सकते हो ? स्वार्थत्याग करने से ही धर्म की रक्षा हो सकती है। गणराजाओं जैसी परिस्थिति अगर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाय तो तुम क्या करोगे ? कदाचित तुम यही सोचोगे कि—कहाँ का हार और कहाँ का हाथी ! हमारा उससे क्या लेन-देन है ? मगर क्या यह राजा लोग ऐसा नहीं सोच सकते थे ? वास्तव में इस प्रकार का विचार करना कायरता है। वीर पुरुष ऐसा तुच्छ विचार नहीं करते। वे दूसरों की रक्षा के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। आज तो लोगों में कायरता व्याप गई है। यह कायरता स्वार्थपूर्ण व्यापार के कारण आई है, मगर लोगों का कहना है कि वह धर्म के कारण आई है। यह कहना एक गम्भीर भूल है। धर्म के कारण कायरता कदापि नहीं आ सकती। वीर पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं।

समस्त गणराजाओं के साथ चेड़ा राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया। इधर कोणिक राजा भी अपने दसों भाइयों के साथ युद्ध के लिए तैयार हुआ। यद्यपि कोणिक के दस भाई कह सकते थे कि हम सब को राज्य का हिस्सा मिला है तो वहिलकुमार को भी हिस्सा मिलना चाहिए, परन्तु उन्होंने भी सत्ता के सामने मस्तक झुका दिया। इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि गणराज्य प्रजातन्त्र राज्य के समान था। परन्तु दूसरे राजा स्वच्छन्द थे और गरीबों पर अन्याय करते थे।

गणराजाओं की सेना का नेतृत्व चेटक ने ग्रहण किया।

वास्तव में धार्मिक व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए सदा आगे ही रहता है। आज के प्रमुख तो कार्य करने के समय नौकरों को आगे कर देते हैं परन्तु चेटक राजा स्वयं अगुवा बना और उसने अपनी युद्ध-कला का परिचय दिया। राजा चेटक ने अपनी अचूक बाणावली के द्वारा कोणिक के भाइयों का शिरच्छेद कर डाला।

अपने भाइयों के मर जाने से कोणिक भयभीत हो गया। कोणिक ने तप आदि द्वारा इन्द्रों की आराधना की। उसकी आराधना के फलस्वरूप शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र आये। शक्रेन्द्र ने कोणिक से कहा—तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण नहीं है और चेटक राजा का पक्ष न्यायपूर्ण है।

कोणिक बोला—कुछ भी हो, इस समय तो मेरी रक्षा करो।

शक्रेन्द्र ने उत्तर दिया—मैं अधिक तो कुछ नहीं कर सकूँगा, सिर्फ चेटक राजा के बाण से तुम्हारी रक्षा करूँगा। मैं उनका बाण-वेध चुका दूँगा।

चमरेन्द्र बोला—तुम मेरे मित्र हो, इस कारण मैं सेनावैक्रिय करूँगा और रथमूसल का संग्रामवैक्रिय करके तुम्हें विजय दिलाऊँगा।

चमरेन्द्र से इस प्रकार आश्वासन पाकर कोणिक बहुत प्रसन्न हुआ। अब कोणिक फिर तैयार होकर राजा चेटक के सामने युद्ध करने आ पहुँचा। भगवान ने कहा—उस संग्राम में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गये।

भगवतीसूत्र में भी एक ऐसा उदाहरण आया है। वरुण नागनतुआ नामक एक श्रावक था। यह श्रावक बेले-बेले पारणा करता था। वह चेटक राजा का सामन्त था। एक बार उसे युद्ध में जाने के लिए कहा गया। उस समय उसके दूसरा उपवास था। क्या ऐसा उपवास करने वाले को युद्ध में जाना उचित था? क्या वह नहीं कह सकता था कि मैं उपवासी हूं। युद्ध में कैसे जा सकता हूं? परन्तु उसने ऐसा कोई उत्तर न देते हुए यही कहा कि अवसर आने

पर सेवक को स्वामी की सेवा करनी चाहिए । स्वामी की सेवा करने के ऐन मौके पर कोई बहाना बनाकर किनारा काटना अनुचित है। अवसर आने पर नमकहराम बनना क्या हरामखोरी नहीं है ?

आज भारतवर्ष में बड़ी हरामखोरी दिखाई देती है । जो लोग भारत का अन्न खाते हैं वही भारत की नाक कटाने वाले कामों में शामिल होते हैं । जो वस्त्र भारत को गुलाम बनाते हैं, उन्हीं को वे अपनाते हैं । भारत की सभ्यता को, रहन-सहन आदि को भुला देते हैं । यह नमकहरामी नहीं तो क्या है ? वायसराय, गवर्नर आदि आते हैं और भारत का शासन करते हैं, पर उन्हें भारतीय वेषभूषा पहनने के लिए कहा जाय तो क्या वे कहना मानेंगे ? वे यही उत्तर देंगे कि हम तो अपनी मातृभूमि की सेवा बजाने आये हैं, द्रोह करने नहीं । अतएव हम अपना वेष कैसे छोड़ सकते हैं ? इस प्रकार अंग्रेज लोग भारत में रहते हुए भी अंग्रेजी पोशाक पहनकर फूले नहीं समाते । यह कृतघ्नता के सिवाय और क्या है ? पोशाक और रहन-सहन से मातृभूमि की पहचान होती है । मगर आज भारत का रहन-सहन बदल गया है । सभ्यता बदल देने से मातृभूमि के प्रति द्रोह होता है । देश-हित की दृष्टि से भी भारतीय संस्कृति अपनाने योग्य है।

वरुण नागनतुआ वीर होने के कारण ही, उपवासी होता हुआ भी, देशरक्षा के लिए युद्ध में शामिल हो गया । मगर आज कायरता आ जाने के कारण देश, समाज और धर्म का पतन हो रहा है ।

कहने का आशय यह है कि चेटक राजा और वरुण नागनतुआ ने श्रावक या सम्यग्दृष्टि होने पर भी संग्राम लड़ा । फिर भी उनका स्थूल अहिंसाव्रत खंडित न हुआ । इसका कारण यही है कि वे निरपराध को ही मारने के त्यागी थे । ऐसी अवस्था में उनका स्थूल अहिंसाव्रत कैसे भंग हो सकता था ? अपराधी को मारने का समावेश स्थूल हिंसा में नहीं होता । राज्य भी ऐसे कामों को अपराध नहीं गिनता। लोग अपराधी को दंड देने के समय दूर-दूर भागते हैं और निरपराध

के गले पर कलन-कुठार चलाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह उनकी कायरता है।

उक्त कथन का आशय यह है कि गृहस्थधर्म मर्यादायुक्त है। गृहस्थधर्म का पालन करने से आत्मा का विकास भी होता है और सांसारिक काम भी नहीं रुकता। जैनधर्म वीरों का धर्म है। इस वीरधर्म में कायरता के लिए लेशमात्र भी गुँजाइश नहीं। जिसमें वीरता होगी वही जैनधर्म का भली-भांति पालन कर सकेगा। आज कायरता को पोपने का जो अपवाद जैनधर्म पर लगाया जाता है, उसका प्रधान कारण जैन कहलाने वालों का कायरतापूर्ण व्यवहार ही है। अगर जैनधर्म का यथोचित पालन किया जाय तो देश, समाज और धर्म का उत्थान हुए विना नहीं रह सकता। धर्मपालन के लिए वीरता और धीरता की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकता है? देश, समाज और धर्म के उत्थान के लिए सर्वप्रथम नैतिक बल प्राप्त करने की आवश्यकता है।

१६ : इन्द्रियविजय

जितशत्रु नामक एक राजा था। उसके प्रधान का नाम सुबुद्धि था। सुबुद्धि बड़ा विचारशील था। एक दिन सुबुद्धि राजा के साथ भोजन करने बैठा था। भोजन स्वादिष्ठ था। राजा ने प्रधान से कहा—देखो कितना स्वादिष्ठ भोजन है! राजा के इस कथन के उत्तर में सुबुद्धि ने कहा—इसमें क्या है? इष्ट से अनिष्ट हो जाना और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तुओं का स्वभाव ही है। राजा ने कहा—प्रधान, तुम तो नास्तिक जान पड़ते हो। क्या यह भी कभी सम्भव है कि अच्छी वस्तु बुरी और बुरी वस्तु अच्छी बन जाए!

राजा अपने दूसरे कर्मचारियों से इस सम्बन्ध में बात करता तो वे सब राजा की ही बात का समर्थन करते थे। मगर सुबुद्धि तो यही कहता कि तुम लोग चाहो सो कहो। मेरे गुरु ने तो मुझे यही सिखलाया है और मैं यही मानता हूँ कि इष्ट का अनिष्ट और अनिष्ट का इष्ट हो जाना ही पुद्गल का स्वभाव है। पुद्गल का स्वभाव नष्ट हो जाना है, अतएव वस्तु का इष्ट-अनिष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राजा ने प्रधान को बहुत समझाने की कोशिश की, पर प्रधान ने अपनी बात नहीं बदली। प्रधान को अपनी बात पर पूरा भरोसा था। उसने राजा से कहा—जिस बात को मैं सत्य मानता हूँ, उस सत्य को मैं असत्य कैसे कह सकता हूँ? राजा ने समझ लिया कि प्रधान इस समय हठ पकड़कर बैठा है। अब इस बात को जाने दिया जाय!

एक दिन राजा नगर-निरीक्षण करने निकला। प्रधान साथ

ही था । नगर के चहुँ ओर खाई थी । पानी भर जाने के कारण खाई में से बदबू निकल रही थी । राजा और प्रधान उसी खाई के पास से निकले । खाई से निकलने वाली दुर्गन्ध असह्य थी । राजा ने प्रधान से कहा—प्रधान, देखो, इस खाई का पानी कितना बदबूदार है ? इतना कहकर राजा ने अपनी नाक दबा ली । उस समय भी प्रधान ने यही उत्तर दिया—महाराज ! इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तु का स्वभाव ही है । प्रधान का उत्तर सुनकर राजा ने कहा—प्रधान तुम बहुत हठी हो । क्या सब चीजें ऐसी हो सकती हैं ? प्रधान बोला—महाराज, मैं हठ नहीं करता, वस्तु का सच्चा स्वरूप कह रहा हूँ । आप कुछ भी फरमावें, मुझे तो आपके प्रति भी समभाव रखना है और वस्तु के प्रति भी समभाव रखना है ।

घर पहुँचकर प्रधान ने विचार किया—वस्तु-स्वरूप के संबंध में राजा के साथ मेरा मतभेद बढ़ता चला जा रहा है । मुझे किसी प्रकार राजा को अपनी बात की खातरी करा देनी चाहिए कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह सत्य है—असत्य नहीं । इस प्रकार विचार कर उसने अपना एक विश्वस्त आदमी भेजकर, खाई का बदबूदार पानी एक घड़ा भरवाकर मँगवाया । प्रधान ने उस पानी को अपने ४९ प्रयोगों द्वारा परिष्कृत किया । तत्पश्चात् उसने वह पानी राजा के पानी भरने वाले को दिया और कहा—महाराज जब भोजन करने बैठें तो पीने के लिए यह पानी रख देना ।

राजा जब भोजन करने बैठा तो उस आदमी ने वही पानी पीने के लिये रख दिया । पानी पीकर राजा ने कहा—अरे, यह पानी तो बहुत मीठा है । यह कहाँ से लाया है ? आदमी ने उत्तर दिया—यह पानी प्रधानजी ने भेजा है । राजा ने प्रधान को उसी समय बुलवाकर कहा—तुम इतना मीठा पानी पीते हो और मेरे लिए आज यह भिजवाया है ! प्रधान ने कहा—इस पानी में ऐसा

क्या है ? यह तो वस्तु का स्वभाव ही है कि वह अनिष्ट से इष्ट और इष्ट से अनिष्ट हो जाती है ।

राजा ने कहा—फिर वही बात कहने लगे ?

प्रधान—मैं जो कहता हूँ, ठीक कहता हूँ । यह पान उसी खाई का पानी है, जिसकी बदबू के मारे आपने नाक दबा लिया था।

राजा—वह बदबूवाला पानी इतना मीठा कैसे बन सकता है ?

प्रधान—महाराज ! मैं प्रयोग द्वारा आपके सामने भी उस पानी को ऐसा मीठा बना सकता हूँ ।

आखिर राजा ने खाई का दुर्गन्ध वाला पानी मंगवाया । प्रधान से उसे शुद्ध और सुगन्धित बनाने के लिए कहा । प्रधान ने पहले की तरह उस पानी को परिष्कृत कर दिया । इस घटना से राजा को विश्वास हो गया कि वस्तु में परिवर्तन हो सकता है । राजा ने प्रधान के सिद्धान्त को स्वीकार करके कहा—प्रधानजी ! आप धर्मज्ञ और विचारशील हैं । अतः मुझे केवली-प्ररूपित धर्म सुनाइए। सुबुद्धि प्रधान श्रावक था और धर्मतत्त्व का ज्ञाता था । उसने राजा को धर्मतत्त्व समझाया । श्रावक को धर्म समझाने का अधिकार है, मगर जब वह स्वयं ज्ञाता हो तभी दूसरों को समझा सकता है। सुबुद्धि प्रधान से धर्मतत्त्व समझकर राजा बारह व्रतधारी श्रावक बना । धीरे-धीरे उसने आत्मकल्याण किया ।

कहने का आशय यह है कि धर्म का ज्ञाता व्यक्ति तो यही मानता है कि इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट होना ही वस्तु का स्वरूप है । इस प्रकार वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर मनुष्य इष्ट वस्तु पर राग और अनिष्ट वस्तु पर द्वेष धारण नहीं करता। वह समभाव ही रखता है । वह भलीभाँति जानता है कि जो वस्तु थोड़ी देर के लिए इष्ट प्रतीत होती है और फिर अनिष्ट मालूम होने लगती है, उसके खातिर मैं अपने आत्मा में राग-द्वेष क्यों उत्पन्न होने दूं ? वस्तु आत्मा का उत्थान भी करती है और पतन भी करती

है। वस्तु के निमित्त से जब आत्मा में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तो ऐसी अवस्था में आत्मा का पतन होता है और समभाव उत्पन्न होने से आत्मा का उत्थान होता है। जिस वस्तु के निमित्त से आत्मा का उत्थान हो सकता है, उसे आत्मपतन का कारण क्यों बनाया जाय !

इस प्रकार विचार कर इन्द्रियों का निग्रह करने वाला व्यक्ति अवश्य ही आत्मकल्याण का भागी होता है।

सभी शास्त्रकार और सभी धर्मावलम्बी इन्द्रियों के निग्रह की बात कहते हैं। इस विषय में प्रायः किसी का मतभेद नहीं है। सभी लोगों का कथन है कि इन्द्रियों का निग्रह करने से आत्मा का कल्याण हो सकता है। गीता में भी कहा है—हे अर्जुन ! तुझे आत्मा का कल्याण करना हो तो सबसे पहले इन्द्रियों का निग्रह कर। इन्द्रियनिग्रह से आत्मा का उत्थान होता है और इन्द्रियों के अधीन बनने से आत्मा का पतन होता है। अतएव इन्द्रियों को वश में रखो। उन्हें पदार्थों के प्रलोभन में मत जाने दो। पर्वत पर से एक ही पैर फिसल जाय तो कौन कह सकता है कि कितना पतन होगा ? इसी प्रकार एक भी इन्द्रिय अगर काबू से बाहर हो गई तो कौन कह सकता है कि आत्मा का कितना पतन होगा ! इसलिए अगर तुम अपने आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा शान्त करके दुःखमुक्त करना चाहते हो तो सर्वप्रथम इन्द्रियों का निग्रह करो। इन्द्रियनिग्रह ही आत्मविजय का ोघ साधन है।

१७ : पुरुषार्थ

भगवान महावीर का सिद्धान्त उत्थान, वल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम का है। श्री उपासकदशांगसूत्र के सकडालपुत्र के अध्ययन में इसी सिद्धान्त का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। गोशालक का मत यह है कि उत्थान आदि कुछ भी नहीं है, जो होनहार है वही होता है। इस मत के विरुद्ध भगवान का सिद्धान्त यह है कि उत्थान, वल वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम आदि द्वारा आत्मा सिद्ध होता है। संक्षे में, भगवान महावीर पुरुषार्थवादी थे और गोशालक नियतिवादी।

एक वार भगवान महावीर ने सकडालपुत्र से कहा—आत्म उत्थान, वल, वीर्य, पुरुषाकार तथा परात्रम से सिद्ध होता है। इ कथन के उत्तर में सकडालपुत्र ने कहा कि उत्थान आदि द्वारा आत्म सिद्ध नहीं होता वरन् सिद्ध होने वाला हो तो हो जाता है।

सकडालपुत्र पहले गोशालक का श्रावक था। इस कारण उसने गोशालक के मत का समर्थन किया। एक दिन सकडालपुत्र ने अपनी दुकान में से मिट्टी के वर्त्तन वाहर निकाले और धूप में सुखा दिये। तव भगवान महावीर ने उससे कहा—हे सकडाल ! यह मिट्टी के वर्त्तन किस तरह वने हैं ?

सकडालपुत्र ने वर्त्तनों के वनने का क्रम वतलाते हुए कहा—जंगल से मिट्टी लाया। फिर उसमें दूसरी चीजों का मिश्रण करके मिट्टी का पिंड वनाया। उसे चाक पर चढ़ाया और तव वर्त्तन वनाये हैं।

भगवान ने कहा—यह वर्त्तन उत्थान आदि से ही वने हैं न ?

सकडाल—नहीं, होनहार ही होता है।

भगवान—अगर कोई तुम्हारे बर्तनों को फोड़ डाले तो ?

सकडाल—मेरे बर्त्तन फोड़ने वाले को मैं बिना मारे नहीं छोड़ूंगा। मैं उसके हाथ-पैर तोड़ दूंगा।

भगवान—सकडाल! तुम उसे इतना दण्ड क्यों दोगे ? तुम्हारे हिसाब से तो होनहार ही होता है। फिर तुम दण्ड क्यों दोगे ? तुम्हें अपने मंतव्य के अनुसार तो यही मानना चाहिए कि लकड़ी के संयोग से बर्त्तन फूटने वाले थे सो फूट गए।

भगवान का यह कथन सुनकर सकडालपुत्र विचार में पड़ गया। इतने में ही भगवान ने उसके सामने दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा—हे सकडालपुत्र! कल्पना करो, तुम्हारी पत्नी सिंगार करके बाहर निकली और कोई पुरुष उस पर बलात्कार करना चाहता है तो तुम क्या करोगे ?

सकडालपुत्र ने कहा—मैं ऐसे दुष्ट पुरुष के नाक-कान काट लूंगा, यहाँ तक कि उसे प्राणदण्ड देने का भी प्रयत्न करूँगा।

भगवान—हे सकडालपुत्र! तुम्हारे मत के अनुसार तो होन-हार ही होता है। फिर तुम्हें उस दुष्ट पुरुष को दण्ड नहीं देना चाहिए।

भगवान की युक्तिसंगत वाणी सुनकर सकडालपुत्र को बोध हो गया। उसने भगवान से कहा—भगवन्! मैं धर्मश्रवण करना चाहता हूँ। भगवान ने उसे धर्म का श्रवण कराया। भगवान की धर्मवाणी सुनकर वह बारह व्रतधारी श्रावक बन गया। जब तक सकडालपुत्र धर्मतत्त्व को समझा नहीं था, तब तक उसमें मताग्रह था। जब उसे वास्तविक धर्मतत्त्व का बोध हुआ तो उसने नियतिवाद का त्याग करके पुरुषार्थवाद का सत्यधर्म स्वीकार किया।

सकडालपुत्र कुम्भार था, फिर भी भगवान ने उसे श्रावक बनाया। क्या ऐसा करना ठीक था ? उन्होंने कुम्भार को श्रावक बनाकर संसार के सामने आदर्श उपस्थित किया कि कोई किसी भी वर्ण या जाति

का क्यों न हो, शरीर से छोटा या मोटा क्यों न हो, मुझे किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का पक्ष नहीं है। मैं सबका कल्याण चाहता हूँ। भगवान के इस कथन पर तुम भी थोड़ा विचार करो।

गोशालक ने सुना कि सकडालपुत्र ने मेरा मत त्याग दिया है। उसे फिर अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए गोशालक उसके पास पहुँचा। गोशालक ने विचार किया—सकडालपुत्र तो महावीर भगवान का पक्का श्रावक बन गया है। तब उसने भगवान की प्रशंसा करना आरम्भ किया।

गोशालक ने सकडालपुत्र से कहा—क्या यहाँ महामाहण, महायान, महानिर्यामक, महागोप तथा महासार्थवाह आये थे?

सकडालपुत्र ने गोशालक से इन विशेषणों का अर्थ पूछा। गोशालक ने अर्थ समझाया। तब सकडालपुत्र ने कहा—तुमने मेरे गुरु की प्रशंसा की है, इस कारण मेरी दुकान में ठहरो और पाट आदि जो चाहिए, सो ले लो। यह सब मैं तुम्हें गुरु मानकर नहीं देता हूँ वरन अपने गुरु भगवान महावीर की प्रशंसा करने के कारण दे रहा हूँ।

१८ : उत्तम क्षमा

क्षमा तीन प्रकार की होती है —तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी। तमोगुणी क्षमा वाले वे लोग हैं जो अपनी स्त्री के साथ बलात्कार करते देख हृदय में क्रोध तो करते हैं, मगर भय के मारे सामना नहीं करते। यह तमोगुणी क्षमा प्रशस्त नहीं है, यह कायरता है, घृणित है और नपुंसकता है। अर्जुन माली का कार्य संसार का नाशक नहीं, अत्याचारी को दण्ड देने का है और वह दूसरे अत्याचारियों के ऐसे दुस्साहस को रोकने के लिए किया गया था। हमारा उपदेश तो ऐसी क्षमा के लिए है जैसी क्षमा सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली के प्रति धारण की थी। वह सतोगुणी क्षमा थी। जिसमें क्रोध तनिक भी उत्पन्न नहीं होता और क्षमा कर दिया जाता है, वही सतोगुणी क्षमा है। धर्म अत्याचार-अनाचार को न रोकने की शिक्षा नहीं देता। धर्म किसी को कायर नहीं बनाता। धर्म की ओट में कोई अत्याचार का प्रतीकार न करे या कायरता को छिपाने के लिए धर्म का बहाना करे, यह अलग बात है। मगर जिसने धर्म के तत्त्व को ठीक तरह समझ लिया होगा वह अपने ऐसे कृत्यों द्वारा धर्म को बदनाम नहीं करेगा।

बौद्ध ग्रन्थों में एक कथा आई है। सोमदेव नामक एक ब्राह्मण की आध्यात्मिक भावना बालकपन से ही बढ़ी-चढ़ी थी। अतएव माता-पिता के मरते ही सोमदेव और उसकी पत्नी ने संन्यास ले लिया। स्त्री सुन्दरी थी। दम्पती वन में रहकर तप किया करते थे। एक बार दोनों नगर में आये। नगर के राजा ने स्त्री को देखा तो उसके

चित्त में विकार पैदा हो गया। वह सोचने लगा—यह रमणीरत्न गलियों में क्यों पड़ा फिरना चाहिये ? यह तो महल की शोभा बढ़ाने योग्य है। यह सोचकर उसने सोमदेव से कहा—यह स्त्री तेरे साथ शोभा नहीं देती।

सोमदेव ने कहा—हाँ, शोभा नहीं देती।

राजा—तो इसे हम ले जाएँ ?

सोमदेव—मेरी नहीं है, भले कोई ले जाय।

राजा ने स्त्री से कहा—चलो, हमारे साथ चलो।

स्त्री ने सहज भाव से उत्तर दिया—चलिए, कहाँ चलना है ?

आगे-आगे राजा चला और पीछे-पीछे स्त्री। महल में पहुँचकर स्त्री ध्यान लगाकर बैठ गई। उसने ऐसा ध्यान लगाया कि कई अनुकूल-प्रतिकूल सत्ताएँ हार गईं, मगर उसका ध्यान न टूटा। राजा को अपना पागलपन मालूम हुआ। उसका अज्ञान हट गया। वह उस संन्यासिनी के पैरों में गिरकर क्षमा माँगने लगा।

स्त्री ने, मानो कुछ हुआ ही नहीं है ऐसे, सहज भाव से उत्तर दिया—किसने और क्या अपराध किया है, वह मुझे मालूम ही नहीं है। मैं क्षमा क्या करूँ !

आखिर राजा संन्यासिनी को लेकर सोमदत्त के पास गया। सोमदत्त को उसकी स्त्री सौंपकर उसने कहा—मैंने आपकी अवज्ञा की है। मेरा यह अपराध है तो गुरुतर, फिर भी मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।

सोमदेव ने कहा—जब यह मेरी है ही नहीं, तब इसमें मेरी अवज्ञा क्या हुई।

इसे कहते हैं क्षमा ! ऐसी क्षमा के द्वारा भी अन्याय-अत्याचार का नाश किया जाता है। अन्याय-अत्याचार के समूल नाश का यह सर्वश्रेष्ठ तरीका है। इस तरीके से अन्यायी और अत्याचारी के हृदय का परिवर्तन हो जाता है। परन्तु ऐसी भावना प्राप्त करने के लिये साधना चाहिए।

११ : काली-महाकाली

अन्तगड़सूत्र में, अन्त में, दस महारानियों की जो कथा है, वह अत्यन्त गम्भीर है और जैनधर्म की कथाओं पर शिखर के समान है। यह दसों महारानियाँ वैभव और भोगों में डूबी हुई थीं। संसार के सर्वश्रेष्ठ भोग उन्हें सुलभ थे। कभी किसी वस्तु का अभाव उन्होंने जाना ही नहीं था। लेकिन भगवान महावीर के प्रताप से उन्होंने समस्त भोगों का परित्याग कर दिया। वे साध्वियाँ हो गईं और आध्यात्मिक साधना में लीन रहने लगीं। भिक्षा द्वारा अपना शरीर निर्वाह करने लगीं। इनमें से भी कृष्णा महारानी के चरित्त का स्मरण करके तो रोमांच हो आता है। कहाँ राजसी वैभव और कहाँ दुष्कर तप! कहाँ उनकी फूल-सी कोमल काया और कहाँ पद-पद पर परिषहों का सहन करना! कैसी अनोखी उत्क्रांति का संदेश है!

मैं धर्मशास्त्र सुना रहा हूँ, इतिहास नहीं सुना रहा हूँ। जिसके हृदय में भक्ति है वह तो धर्मशास्त्र की कथा को ऊँची समझेगा ही, परन्तु लोकदृष्टि से देखने वाला भी इतना अवश्य कहेगा कि राजरानी साध्वी बने—स्वेच्छा से भिक्षुणी के जीवन को अंगीकार करे, यह कल्पना ही कितनी उच्च है! जिस मस्तिष्क ने यह कल्पना की है वह क्या असाधारण नहीं होगा?

जैनधर्म और बौद्धधर्म की कथाओं से विदित होता है कि भारतवर्ष में अनेक राजरानियाँ साध्वी बनी हैं। महाराज अशोक की बहिन भी भिक्षुणीसंघ में प्रविष्ट हुई थी। सुना जाता है कि उसके नाम का पीपल आज भी सीलोन में विद्यमान है। ऐसी साध्वियाँ

जब संसार में घूम-घूमकर जनता को जागृत करती होंगी, तब भारत में और भारत के प्रति दूसरे देशों में किस प्रकार की भावना उत्पन्न होती होगी, यह कौन कह सकता है ! सचमुच भारतीय इतिहास का वह स्वर्णकाल अनूठा था ! एक राजरानी स्वेच्छापूर्वक वैभव को लात मारकर भिक्षुणी बनती और घर-घर फिरती है ! जीवन के किसी अभाव ने उसे भिक्षुणी बनने को बाध्य नहीं किया था। किसी अपूर्व अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर ही उसने ऐसा किया था और ऐसा करके वह क्या दुःखी थी ? नहीं । भोगों में अतृप्ति थी, त्याग में तृप्ति थी । भोगों में असन्तोष, ईर्षा और कलह के कीटाणु छिपे थे, त्याग में सन्तोष की शांति थी, निराकुलता का अद्‌भुत आनन्द था. आत्मरमण की स्पृहणीयता थी । इसी सुख का अनुभव करती हुई वह भिक्षुणियाँ अपने जीवन को दिव्य मानती थीं। उनका त्याग महान था ।

आप कितने भाग्यशाली हैं कि यह महान आदर्श आपके सामने उपस्थित है। आप पूर्ण रूप से अगर इस आदर्श पर नहीं चल सकते तो भी उसी ओर कदम तो बढ़ा सकते हैं ! कम-से-कम विपरीत दिशा में तो न जाएँ ! मगर आप इस ओर कितना लक्ष्य देते हैं ? आपसे तो अभी तक बारीक वस्त्रों का भी मोह नहीं छूट सकता। इन वस्त्रों के लिए चाहे किसी की चमड़ी जाती हो, पर आप पतले कपड़े नहीं छोड़ सकते। अगर आप इतना-सा भी त्याग नहीं कर सकते तो राजसी वैभव और राजसी भोगों का त्याग करने वाले सन्तों और ऐसी ही सतियों का चरित सुनकर क्या लाभ उठाएँगे ? क्या आपको उन त्यागमूर्ति महासतियों का स्मरण भी आता है ?

महासेन कृष्णा विदुसेन कृष्णा,
राम कृष्णा शुद्धमेवजी ।
नित—नित वंदूं रे समणी,
त्रिकरण—शुद्ध त्रिकालजी ।

कवि ने यह वन्दना किस काली को की है ? और आप यह वन्दना किस काली को कर रहे हैं ? भारत की इन महाशक्तियों को भगवान ने किस भाव से शास्त्र में स्थान दिया है ? आप इन सतियों को किस प्रकार वन्दना कर सकते हैं ? सांसारिक भोगों के प्रति हृदय में जब तक तिरस्कार की भावना उत्पन्न न हो जाय जब तक मनुष्य इन्हें वन्दना करने का सच्चा अधिकारी किस प्रकार हो सकता है ? हम किसी के कहने से या भावावेश में आकर उन सतियों के नाम पर चाहे मस्तक झुका लें, किन्तु वास्तव में उन्हें वन्दना करने योग्य तभी समझे जाएँगे, जब उनके त्याग को पहिचानेंगे । उनके त्याग को पहचानकर वन्दना करने से आपके पाप जलकर भस्म हो जाएँगे ।

सेठानियाँ, सेठानियों को तो बहिन बनाती हैं मगर किसी दिन किसी गरीबिनी को भी बहिन बनाया है ?

काली और सुकाली के हृदय में अपना कल्याण करने की भावना उत्पन्न हुई । तब वे कहने लगीं—यह राजमहल आत्मा के लिए कारागार है और ये बहुमूल्य आभरण हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ हैं । इनके सेवन से आत्मा अशक्त बनता है, गुलाम बनता है । ऊपरी सजावट के फेर में पड़कर हम आन्तरिक सौन्दर्य को भूल जाते हैं । स्वाभाविकता की ओर अर्थात् आत्मा के असली स्वरूप की ओर हमारी दृष्टि ही नहीं पहुँच पाती । संसार के भोगोपभोग और सुख के साधन असलियत को भुलाने वाले हैं । यह इतने सारहीन हैं कि अनादि काल से अब तक भोगने पर भी आत्मा इनसे तृप्त नहीं हो पाया । अनन्त काल तक भोगने पर भी भविष्य में तृप्ति होने की सम्भावना नहीं है । अलबत्ता, इन्हें भोगने के दण्ड-स्वरूप नरक और तिर्यंच गतियों के घोर कष्ट सहन करने पड़ते हैं । इन भोगविलासों के चक्कर में पड़ने वाला स्वार्थी बन जाता है । वह अपनी ही सुख-सुविधा का विचार करता है और अपने दीन-दुखी पड़ौसी की तरफ नजर

भी नहीं डालता।

रानियाँ कहती हैं—जिन गरीबों की बदौलत हम राजरानी कहलाती हैं, उन्हीं गरीबों को हमने भुला रखा है! यही नहीं, वरन एक प्रकार से उनके प्रति वैर-विरोध कर रखा है। राजमहल में रहव हम उन बहिनों से नहीं मिल सकतीं, जिन्होंने हमें महारानी बनाया है इन चकाचौंध करने वाले गहनों और कपड़ों के कारण वे हमारे पा नहीं आ सकतीं—नजदीक आते डरती हैं!

अगर कोई स्त्री फटे-पुराने कपड़े पहनकर किसी महारानी मिलने जाना चाहे तो क्या पहरेदार उसे भीतर घुसने देंगे? नहीं अगर धक्के मारकर न भगा देंगे तो डाट-फटकार बताये बिना भं नहीं रहेंगे। मगर रानी से पूछा जाय कि तुमने जो वस्तु औ आभूषण धारण किये हैं वे आये कहाँ से हैं? वे गरीबों के पसीने से ही बने हैं या राजा की तिजोरी में उगे हैं? रानी इस प्रश्न का क्या उत्तर देगी?

यह बात सिर्फ रानी-महारानी को ही लागू नहीं होती। बढ़िया और कीमती गहने-कपड़े पहनने वाला, फिर वह कोई भी क्यों न हो, बढ़िया गहनों-कपड़ों वालों को ही चाहता है। उसे बिना जेवर का गरीब आदमी प्यारा नहीं लगता। यही विकार है। बढ़िया वस्त्रों में और आभूषणों में अगर विकार न हो तो भगवान महावीर क शायद ही सादा वेष चलाने की आवश्यकता पड़ती। जिसकी मैत्री भावना विकसित हो गई है, उसी के हृदय में इस प्रकार की सद् भावनाएँ जागृत होती हैं और वही वस्त्र-आभूषण का त्याग करता है।

महारानी काली के हृदय में मित्रभावना विकसित हुई। अतएव उन्होंने विचार किया—मुझे अपनी सब बहिनों से समान रूप से मिलना चाहिए। मेरे और उनके बीच में जो बड़ी दीवाल खड़ी है उसे मैं गिरा दूंगी। मैं सारे भारत को जगाना चाहती हूँ और भेदभाव की काल्पनिक दीवालों को धूल में मिला देना चाहती हूँ। यह विचार

कर महारानी काली ने उत्तम वस्त्र उतारकर सादे वस्त्र धारण किये, इन्द्रानी सरीखा मनोहर श्रृंगार हटा दिया और जिस केशराशि को बड़े चाव से सजाया करती थी और सुगन्धित तेल-फुलेल से नहलाया करती थी, उसी केशराशि को नौंचकर फैंक दिया। उन्होंने स्वदेश की बनी सादी खादी से अपना शरीर सजा लिया। महारानी काली ने साध्वी होकर सफेद वस्त्र धारण किये।

आज अगर कोई विधवा बाई भी सफेद वस्त्र धारण कर लेती है तो होहल्ला मच जाता है। काली रानी का वह तेज आज बहिनों में नहीं रहा। न जाने कब और कैसे गायब हो गया है!

आखिर काली रानी ने संसार त्याग दिया। संसार त्यागकर उन्होंने जो अवस्था अपनाई, वह वर्णनातीत है। महाकृष्णा काली नामक सती ने आंबिल तपस्या करना आरम्भ किया। चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिनों तक आंबिल तप करके उन्होंने अपनी कोमल और कान्त काया को झुलसा डाला। एक उपवास और उसके बाद आंबिल, फिर उपवास और दूसरे दिन फिर आंबिल, इस प्रकार उनकी तपस्या निरन्तर जारी रही।

'आंबिल' प्राकृत भाषा का शब्द है। संस्कृत में इसे 'आचाम्ल' व्रत कहते हैं! इस व्रत का अनुष्ठान करने वाला सरस भोजन का त्याग करके नीरस और नमकहीन रूखा-सूखा भोजन करता है। पके हुए चावलों को पानी से धोकर उन्हें स्वादहीन बनाकर दिन भर में एक बार खा लेना और फिर दूसरे दिन उपवास करना, यह महासती काली का तप था।

मित्रो! आपके यहाँ ऐसी शक्तियाँ भरा पड़ी हैं। फिर भी न मालूम क्यों आप में बल नहीं आता! आप मेरी दी हुई मात्रा का सेवन करो। चाहे यह कटुक हो पर इससे रोग का अवश्य ही विनाश होगा, इसमें सन्देह नहीं।

काली महासती अपने समस्त स्वर्गोपम सुखों को तिलांजलि

देकर यह घोर तपस्या किस उद्देश्य से कर रही थीं ?

कर्मक्षय करने के लिए !

यह उत्तर है तो ठीक, परन्तु आप पूरी तरह नहीं कह सकते। इस कारण इतनी-सी बात कहकर समाप्त कर देते हैं। कर्म का अर्थ दुष्कर्म समझना चाहिए। काली महासती विचारती हैं—मैंने उत्तम भोजन खाया और इसी कारण अनेक गरीबों को दुत्कारा, मुसीबत में डाला और अधिक गरीब बनाया है। यही मेरा दुष्कर्म है। इसका बदला चुकाने के लिए उन्होंने बढ़िया कपड़ों का और उत्तम भोजन का त्याग करके सादे कपड़े पहने और नीरस भोजन किया।

काली महारानी सफल कियो अवतार।
पायो छे भव-जल पार ॥ काली० ॥
कोणिक राजा की छोटी माता,
श्रेणिक नृप नी नार।
वीर जिणन्द की वाणी सुन ने,
लीनो है संयम-भार ॥ काली० ॥
चन्दनबाला सती मिली है गुरानी।
नित नित नमें चरणार, विनय कभी भणी,
अंग इग्यारा जारी निर्मल बुद्धि अपार ॥ काली० ॥१॥

महासती काली कहती है कि मैंने बढ़िया भोजन खाकर और बढ़िया कपड़े पहनकर बहुत लोगों के साथ परोक्ष रूप से विरोध किया है। जिन गरीबों की कृपा से उत्तम वस्त्र और भोजन की प्राप्ति होती थी, उन गरीबों को मैंने धक्के दिलवाये और निकम्मे मसखरे लोग पड़े-पड़े माल खाते रहे। गरीबों के घोर परिश्रम के फलस्वरूप ही हमें दूध, घी, शक्कर और चावल आदि वस्तुएँ प्राप्त होती थीं, मगर जब उन्हीं गरीबों में से कोई मुट्ठी भर आटे की आशा से मेरे पास आता था तो उसे आटे के बदले धक्के मिलते थे कि दूध घी और चावल-शक्कर खाने वालों को नजर न लग जाय !

कीं। तरह-तरह के व्यंजन और मिष्टान्न तैयार करवाए। वे जीमने बैठे। जीमते-जीमते तृप्त हो गए और कहने लगे—बस, अब मत परोसिये। अब एक कौर भी नहीं निगल सकता। लेकिन बड़प्पन के मद में छककर मैं नहीं माना। थोड़ा और खाने का आग्रह किया। न माने तो जबर्दस्ती करके थाल में भोजन डाल दिया। फिर पकड़कर मुँह में खिलाया। उसी समय क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति मेरे द्वार पर आया। भूख से उसकी आँखें निकल रही थीं, बिना मांस के हाड़ों का पींजरा सरीखा उसका शरीर दिखाई देता था। जिस समय सगे-सम्बन्धी भोजन परोसने के लिए मना कर रहे थे और मैं जबर्दस्ती उन्हें परोसने में लगा था, ठीक उसी समय वह भूखा द्वार पर आया। उसने कहा—मेरे प्राण अन्न के अभाव में भूख के मारे जा रहे हैं, अगर थोड़ा भोजन हो तो दे दो। परन्तु हाय मेरी कठोरता! मैंने टुकड़ा भी देने की भावना नहीं की और सगे-सम्बन्धी के गले में ठूँसने में ही व्यस्त रहा।

मित्रो! कवि ने अपने पाप का प्रदर्शन किया है और ऐसा करके उसने अपने पाप को हलका कर लिया है, ऐसा समझ लेना उपयुक्त नहीं होगा। कवि जनता की भावनाओं का प्रतिनिधि होता है। वह समाज की स्थिति का शाब्दिक चित्रण करता है। अतएव उसके कथन को समाज का चित्र समझना चाहिए। इस दृष्टि से मराठी कवि का उपर्युक्त कथन सारे समाज का चित्रण है—सम्पूर्ण समाज के पाप का दिग्दर्शन है। आप अपने ऊपर इस कथन को घटाइये। अगर आप पर वह घटित होता हो तो आप भी अपने दुष्कर्मों की आलोचना कीजिए और उनसे बचने का दृढ़ संकल्प कीजिए।

भूख के कारण जिसके प्राण निकल रहे हैं, उसे एक टुकड़ा मिल जाय तब भी उसके लिए बहुत है। मगर लोगों को उसकी ओर ध्यान देने की फुर्सत ही कहाँ? आजकल के लोगों में क्षुद्र, संकीर्ण और स्वार्थमय भावना घुसी हुई है, तिस पर भी धर्म के नाम

की तरह जिमाया हो ?

नहीं !

लेकिन पुण्य किधर होता है ? अपनी श्रीमंताई दिखाने के लिए सगे को जबर्दस्ती खिलाने से पुण्य का बंध होता है या गरीब के प्राण बचाने के लिए उसे खिलाने से ?

भूखे को खिलाने से !

यह जानते और मानते हुए भी अपनी प्रवृत्ति को बदलते क्यों नहीं ? फिर कहते हो कि हम पुण्य और पाप को जानते हैं ?

बात काली महारानी की चल रही है । उनके अन्तःकरण में यह भावना उत्पन्न हुई कि मैंने उत्तम-उत्तम भोजन किये पर गरीबों को देना तो दूर रहा, उल्टे उनकी नजर पड़ने से बचाव किया। अलबत्ता, मैंने अपनी सरीखी रानियों को बड़े प्रेम से जिमाया पर उससे क्या हुआ ? वह तो मोह था या लोकव्यवहार था, दया नहीं थी । हृदय में दया होती तो भूखे को खिलाया होता ! मैंने यह पाप किया है । मैं इस पाप को सहन नहीं करूँगी । अब ऐसा भोजन करूँगी जिसे गरीब भी पसन्द नहीं करते । ऐसा भोजन करके मैं संसार को दिखला दूँगी कि इस पाप का प्रायश्चित्त कैसे होता है !

मित्रो ! बढ़िया भोजन की अपेक्षा सादा भोजन करने से दया कितनी अधिक हो सकती है, इस बात पर विचार करो । आपके घर बाजरे की घाट बनी होगी और वह बच रहेगी तो किसी गरीब को देने की इच्छा हो जाएगी । अगर दाल का हलुआ बचा होगा तो शायद ही कोई देना चाहेगा ! उसे तो किसी सम्बन्धी के घर भेजने की इच्छा होगी । इसीलिए तो कहा है—

दया धर्म पावे तो कोई पुण्यवंत पावे,
जाँने दया की बात सुहावे जी ।
भारी कर्मों अनन्त संसारी,

जांने दया दाय नहीं आवेजी ॥

विचार करो कि पुण्यवान कौन है ? मिष्टान्न-भोजन करने वाला और अपने भोजन के लिए अनेकों को कष्ट में डालने वाला पुण्यवान है या सादा भोजन करके दूसरों पर दया करने वाला पुण्यवान है ? सुनते हैं भारतीयों की औसत आमदनी डेढ़ आना प्रतिदिन है। इसे देखते हुए अगर प्रत्येक आदमी डेढ़ आने में अपना निर्वाह करे तब तो सब को भोजन मिल सकता है, लेकिन आप कितने आने प्रतिदिन खर्च करते हैं ? आपका काम तीन आने, छह आने या बारह आने में भी चल जाता है ?

नहीं !

अगर कोई चलाना चाहे तो चल क्यों नहीं सकता ? हाँ, इतने व्यय में वह मौज-शौक नहीं होगी, जो अभी आप कर रहे हैं। जब प्रति मनुष्य डेढ़ आने की दैनिक आय है तो तीन आना खर्च करने वाला एक आदमी को, छह आना खर्च करने वाला सात आदमियों को भूखा रखता है ! इससे स्पष्ट है कि अमीर लोग ज्यों-ज्यों अधिक मौज करते हैं, त्यों-त्यों गरीब ज्यादा तादाद में भूखे मरते हैं ? एक लम्बी-चौड़ी दरी को समेटकर उस पर एक ही आदमी बैठ जाय और दूसरे को नहीं बैठने दे तो क्या उसका बड़प्पन समझा जायगा ? बड़प्पन तो औरों को बिठलाने में है।

काली रानी कहती है—मेरे गले में वह अन्न कैसे उतरा जिसके लिए अनेक मनुष्यों को कष्ट में पड़ना पड़ा !

इस राजसत्ता ने कैसे-कैसे अनर्थ किये हैं। जब मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है। उसे न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म कुछ नहीं सूझता। एक हार और हाथी के लिए एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का घमासान हो गया ! लड़ाई तो अपनी मौज के लिए करें और नाम प्रजा की रक्षा का हो !

महासती महासेन कृष्णा एक आंबिल एक उपवास, इस प्रकार

क्रमशः आंबिल करती-करती सौ आंबिल तक चढ़ गई। चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन में उन्होंने अपना शरीर सुखा डाला।

काली महासती राजरानी थीं। साध्वी के वेश में जब वे लोगों के घर भिक्षा के लिए जाती होंगी, तब लोगों में त्याग के प्रति कितनी स्पृहा होती होगी? लोग त्याग के प्रति कितनी आदरभावना अनुभव करते होंगे? एक राजरानी राजसी वैभव को ठुकराकर, भोगोपभोगों से मुँह मोड़कर, वस्त्रों और आभूषणों को छोड़कर जब साध्वी का वेष अंगीकार करती है, तो संसार को न मालूम कितना उच्च और महान आदर्श सिखलाती है!

२० : नयन-दान

महाभारत में एक कथा है। एक तपस्वी जंगल में रहता था और भिक्षा के लिए नगर में आया करता था। एक दिन वह जिस स्त्री के घर भिक्षा लेने गया, उस स्त्री की आँखों पर मुग्ध हो गया। वह वार-बार उसी के घर भिक्षा लेने पहुँचने लगा। स्त्री चतुर थी। वह समझ गई कि तपस्वी वार-वार मेरे घर भिक्षा लेने आता है तो कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए। आखिर उसने तपस्वी से पूछ ही लिया—महाराज ढिठाई के लिए क्षमा कीजिए। मैं यह जानना चाहती हूँ कि आप बार-बार मेरे यहाँ भिक्षा लेने क्यों आते हैं ? क्या दूसरी जगह आपको भिक्षा नहीं मिलती ?

आज असत्य का साम्राज्य फैल गया है। लोग असत्य को 'नीति' समझने लगे हैं। मानो असत्य बोलना कोई पाप ही नहीं है! किन्तु प्राचीनकाल के लोग असत्य भाषण करना बड़ा पाप मानते थे। अतएव उस स्त्री के प्रश्न के उत्तर में तपस्वी ने स्पष्ट कह दिया—मैं तुम्हारे नेत्रों पर मुग्ध हूँ। तुम्हारे कमल के समान नेत्रों को देखने के लिए ही वार-वार यहाँ आता हूँ।

स्त्री ने कहा—अच्छा, यह वात है ? आप कल फिर आना।

तपस्वी वोला—मैं तो विना निमन्त्रण ही आया करता हूँ, तो फिर निमन्त्रण पाकर क्यों नहीं आऊँगा ?

दूसरे दिन उस स्त्री ने अपने दोनों नेत्र निकालकर एक पत्ते पर रख लिये। जब तपस्वी आया तो उसे नेत्र देती हुई वोली—आप जिन नेत्रों पर मुग्ध हुए हैं, वह नेत्र आपके चरणों में भेंट धरती

हैं। आज भिक्षा में इन्हें भी लेते जाइए।

नेत्र बाहर निकाल लेने से उनका खाली स्थान और निकाले हुए दोनों नेत्र बड़े ही भयानक दिखाई देते थे। वास्तव में जिन आँखों को कमल के समान समझा जाता है, वे मांस के लोथ के सिवाय और क्या हैं ?

स्त्री ने कहा—यह नेत्र बड़े अनर्थकारी हैं। इन्होंने आप जैसे तपस्वी को भी मोह में फँसा दिया !

यह दृश्य और स्त्री का कथन देख-सुनकर तपस्वी के पैरों तले की जमीन खिसक गई ! उसके हृदय में घोर अन्तर्द्वन्द्व मच गया। उसने कहा—माता, तुमने मेरी आत्मा को पवित्र करने के लिए कितना बड़ा त्याग किया है ? अपराध मेरा था और प्रायश्चित्त तुमने किया ? मुझे क्षमा करना !

इतना कहकर तपस्वी लौटने लगा। तब उस स्त्री ने कहा—इन नेत्रों को तो साथ लेते जाइए !

तपस्वी अब उन नेत्रों का क्या करता ? वह सीधा जंगल में भाग गया। उस दिन से उसने प्रण कर लिया कि अब भूलकर भी मैं नगर में नहीं जाऊँगा। जंगल में जो मिल जायगा, उसी से अपना निर्वाह कर लूँगा।

साधारण लोग अपने दोषों की तरफ दृष्टिपात नहीं करते। किन्तु जो विवेकवान है वह अपने ही दोष देखता है, दूसरों के दोष नहीं देखता। यही नहीं, वह दूसरे के अपराध के लिए आप प्रायश्चित्त करता है।

२१ : अहो सुखम् !

काशी में कुछ तापस चौमासा करने आए। उनमें एक तापस वृद्ध था और राजा उसका भक्त था। जब चौमासा पूरा हुआ और तापस हिमालय की ओर जाने लगे, तब राजा ने वृद्ध तापस से कहा—आप वृद्ध हैं। पर्वत चढ़ने में आपको कष्ट होगा। इसलिए आप यहीं बाग में रह जाइए और अपने शिष्यों को तपस्या करने भेज दीजिए।

तपस्वी ने विचार किया—वृद्धावस्था के कारण वास्तव में मुझे चढ़ने-उतरने में बड़ा कष्ट होता है। तो मैं यहीं क्यों न रह जाऊं? और वह वहीं रह गया। अपने शिष्यों को हिमालय की ओर भेज दिया।

बड़े शिष्य की देख-रेख में सब शिष्य तपस्या करते थे। एक बार एक शिष्य को गुरु से भेंट करने की इच्छा हुई। वह काशी आया। जब गुरु के स्थान के समीप पहुंचा तो शाम का समय हो गया था और वह बेहद थक भी गया था। इस कारण सीधा गुरु के पास न जाकर वह गुरु के स्थान के बाहर की एक चबूतरी पर सो गया।

काशी का राजा उसी समय तपस्वी के दर्शन करने आया। राजा के साथ हाथी-घोड़े और लाव-लश्कर होते ही हैं। इन सब के कोलाहल से शिष्य की नींद खुल गई। शिष्य ने उठकर राजा को देखा और फिर आँख मूंदकर पड़ गया और कहने लगा—

अहो सुखं, अहो सुखं, अहो सुखम् !

वह शिष्य राजा को पास आया देखकर भी नहीं उठा। रा

सोचने लगा—यह कितना अशिष्ट है कि मुझे देखकर भी पड़ा रहा! और फिर यह निर्लज्जता कि 'अहो सुखं, अहो सुखं' कर रहा है! इसके लिए उठकर बैठना ही मुश्किल है तो यह तपस्या क्या करता होगा? राजा ने सोचा—ऐसे-ऐसे लोग भी हैं जो घर छोड़कर भी खाकर पड़े रहते हैं!

राजा ने जाकर वृद्ध तापस से भेंट की। फिर उसने पूछा—कोई नया तापस भी आया है?

गुरु को उसके आने का पता चल गया था। अतएव उन्होंने कहा—हाँ, आया तो है।

राजा—वही तो नहीं जो बाहर पड़ा है?

गुरु—हाँ, वही है।

राजा—आश्चर्य है कि जिन्हें उठकर बैठना भी कठिन है, क्या तपस्या करते होंगे? जान पड़ता है—खाया बहुत है, इसी पड़ा है और 'अहो सुखं, अहो सुखं' रट रहा है। परन्तु आपने ऐ आदमी को अपना चेला कैसे बना लिया जो खाने में ही सुख माने!

राजा का प्रश्न सुनकर वृद्ध तापस हँसा। राजा को वृद्ध तापस की इस हँसी पर आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—आप हँसे क्यों?

तापस—राजन्! तुम उसे पहचानते नहीं हो। तुमने उसका भेद नहीं जाना। भेद को पाये बिना अपनी सम्मति बना लेना मूर्खता है। अज्ञानता उसमें नहीं, तुममें है।

राजा—क्या मेरी कोई भूल है?

तापस—हाँ, पर क्या भूल है, यह तुम नहीं जानते। एक दिन वह भी तुम्हारे ही समान राज्य का और ऐश्वर्य का स्वामी था। परन्तु संसार की यह उपाधि, जो तुझे आनन्द देने वाली जान पड़ती है, उसे दुःख रूप प्रतीत हुई। उसे वह जंजाल प्रतीत हुआ। वह सोचने लगा—कब मेरे सिर से यह बोझ हट जाय!

किसी के सिर पर दो-चार मन का बोझ हो और वह हट

२२ : अवांछित विवाह-संबंध

लंका के प्रचण्ड प्रतापशाली सम्राट् रावण का नाम किसने नहीं सुना ? वह एक वार दिग्विजय करने के लिए निकला। दिग्विजय करते-करते वह एक नगरी में पहुँचा। वहाँ कुवेर नामक राजा रा करता था। राजा कुवेर वड़ा ही चतुर था। उसके सामने राव की दाल न गली। रावण उसे पराजित नहीं कर सका। कुवे 'असालिका' नामक विद्या जानता था।। उस विद्या की सहायता वह नगरी के चारों ओर अग्नि का कोट वना देता था। इसी वि के प्रताप से उसकी नगरी अजेय वनी रही।

रावण को वड़ी निराशा हुई, लेकिन वह भाग्यवान था, अ विजय का एक मार्ग निकल आया।

कुबेर की एक रानी रावण को पहले से ही चाहती थी। उस माता-पिता भी रावण के साथ उसका विवाह करना चाहते थे। प रावण दिग्विजय के लिए निकल पड़ा था, इस कारण उसके पित ने राजा कुबेर के साय उसका विवाह कर दिया। फिर भी वह हृदय से रावण को चाहती थी।

रानी ने देखा कि रावण को विजय नहीं मिल रही है और वह निराश हो रहा है। जिस विद्या के कारण रावण को विजय नहीं मिल रही है, उसकी चावी मेरे हाथ में है, जो मेरे पति ने मुझे प्रसन्न करने के लिए वतलाई है। अगर रावण मुझे अपना लेना स्वीकार कर ले तो मैं उसे विजयी वना सकती हूँ।

अनिच्छित विवाह का परिणाम कैसा होता है, यह वात इस

घटना से स्पष्ट मालूम हो जाती है । कुवेर की वह पत्नी रावण के साथ विवाह करना चाहती थी, फिर भी उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध कुवेर के साथ कर दिया गया । परिणाम यह हुआ कि रानी अपने पति के साथ वड़े-से-बड़ा धोखा करके, ऐसे समय रावण से मिलने के लिए तैयार हुई जब कि वह पति का शत्रु बनकर आया था ।

रानी ने दासी के साथ रावण के पास संदेश भेजा—अगर आप मुझे स्वीकार करें और अपनी पत्नी बना लें तो मैं आपको विजयी वना सकती हूँ । जिस विद्या के प्रताप से नगरी के चारों वाजू अग्नि का कोट वन जाता है, उसकी चावी मुझे मालूम है । दासी यह संदेश लेकर गुप्त रूप से रावण के पास गई । उसने संदेश सुनाया । रावण पहले वड़ा नीतिमान और धर्मनिष्ठ था । उसने रानी के प्रस्ताव को यह कहकर अस्वीकार कर दिया—विजयप्राप्ति के लिए मैं इस प्रकार का निन्दनीय काम नहीं कर सकता । विजय हो, चाहे न हो, पर मैं इसके लिए परस्त्री को स्वीकार नहीं कर सकता ।

रावण का स्पष्ट उत्तर सुनकर दासी चुपचाप लौट गई । विभीपण ने देखा—यह दासी आई तो प्रसन्न वदन थी, मगर जा रही है उदास होकर । इसका कारण पूछना चाहिए । विभीपण ने उस दासी को अपने पास वुलाकर पूछा—क्यों, उदास होकर क्यों जा रही हो ?

दासी ने सकुचाते हुए सारी घटना विभीपण से कही । तव विभीपण वोले—रावण क्या समझें ? सारा राज-काज तो मैं चलाता हूँ । मैं ही सव काम करता हूँ । तुम जाओ और रानी से कह दो कि विभीपण उन्हें अपनी भाभी वनाने के लिए तैयार है ।

दासी ने महल में जाकर रानी से सव हाल कहा । रानी ने प्रसन्न होकर विचार किया—जव विभीपण मुझे अपनी भाभी वनाने के लिए तैयार हैं तो फिर चाहिए ही क्या ?

इधर रावण ने विभीपण से कहा—क्या तुम मुझे भ्रष्ट करने

के लिए तैयार हुए हो ? क्या तुम परस्त्री के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ना चाहते हो ?

विभीषण बोले—आप इस विषय में चिन्ता न कीजिए। ऐसा कदापि नहीं होगा। यह तो राजनीति का एक खेल है। राजनीति में अनेक उपायों से काम निकालना पड़ता है।

आखिर रानी विभीषण के पास आ पहुँची। विभीषण ने रानी से कहा—मैं आपको भाभी मानता हूं। असालिका विद्या की चाबी आप मुझे बतला दीजिए।

भोली रानी ने समझा—विभीषण जब मुझे भाभी मानते हैं तो रावण के साथ विवाह होने में अब क्या मीन-मेष हो सकती है ? बस, रानी ने वह चाबी विभीषण को बतला दी और विभीषण ने नगरी पर विजय प्राप्त कर ली।

विजयी होने के बाद रानी ने विभीषण से कहा—अब आपके भाई के साथ मेरा विधिपूर्वक विवाह हो जाना चाहिए।

विभीषण ने कहा—मैंने आपको भाभी कहा है तो क्या आपको भूल जाऊँगा ? मगर मैं आपको ऐसे मार्ग पर चलते नहीं देख सकता जो मेरी माता के लिए योग्य न हो। मेरी भाभी किसी भी प्रकार का निन्दनीय कार्य नहीं कर सकती। अगर मैं आपका सम्बन्ध अपने भाई के साथ कर दूँ तो भी आप उनकी उपपत्नी ही कहलाएँगी। अतएव आपका भला इसी में है कि आप यह विचार त्याग दें। मैं आपके लिए ऐसी व्यवस्था किये देता हूँ कि कुबेर राजा आपका आदर करेंगे और आप मेरी भाभी भी बनी रहेंगी।

पराजय होने के बाद राजा कुबेर को पता चला कि महल में से रानी गायब है ! उसे समझते देर न लगी कि इस पराजय का कारण रानी ही है। वह इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि विभीषण उसके पास पहुँचे। उन्होंने कहा—भैया, किस विचार में डूबे हो ? अपने लिए विभीषण द्वारा कहा हुआ 'भैया' विशेषण सुनकर

कुवेर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने विभीषण का यथोचित आदर करके विठलाया और विचार किया—यह मेरे शत्रु के भाई होकर भी कितने मीठे शब्द वोल रहे हैं और उधर उस दगावाज रानी को देखो, जो सब तरह से मेरी होकर भी मेरे साथ विश्वासघात कर गई है !

विभीषण ने प्रेमपूर्ण स्वर में कहा—आप इस विषय में अधिक विचार करके परेशान न हों। आपने रानी के मन को सन्तुष्ट और प्रसन्न नहीं किया। इस कारण अगर यह परिणाम आया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? मगर जो हुआ सो हुआ। मैं आपकी पत्नी को यहाँ बुलाये लेता हूँ। आप हृदय से उनका आदर कीजिए। इससे आपकी अप्रतिष्ठा भी न होगी और उनका धर्म भी न जायगा।

कुवेर ने विभीपण की सलाह स्वीकार कर ली। साथ ही वादा किया—अव मैं उसके साथ अच्छा व्यवहार करूँगा।

विभीपण—ठीक है। इस घटना को भूल जाइए। समझ लीजिए, घटना घटी ही नहीं है।

विभीषण ने राजा और रानी का सम्वन्ध फिर स्थापित कर दिया।

विना मन का विवाह समाज के लिए भयानक अभिशाप है !

२३ : स्वर्ग की चाह

एक बार महाराज श्रेणिक ने अपने बुद्धिमान् पुत्र और मन्त्री अभयकुमार से पूछा—सब की आत्मा क्या चाहती है ?

अभयकुमार ने कहा—सब कल्याण चाहते हैं महाराज !

श्रेणिक—फिर कल्याण होता क्यों नहीं ? जब सभी कल्याण चाहते हैं तो फिर कल्याण न होने का कारण क्या है ?

अभय—लोग जिसको चाहते हैं उसको नहीं करते और जिसको नहीं चाहते उसको करते हैं। ऐसी अवस्था में कल्याण बेचारा क्या करे?

श्रेणिक—वाह ! क्या सारी दुनिया मूर्ख है कि जो चाहती है सो नहीं करती और जो नहीं चाहती सो करती है ?

अभय—इसके लिए मैं प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित करूँगा।

कुछ दिन बाद अभयकुमार ने दो महल खाली करवाए। एक को बिलकुल काला रंगवाया और दूसरे को एकदम ऐसा सफेद कि देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाय। महलों को रंगवाकर अभयकुमार ने शहर में ढिंढोरा पिटवाया कि जो धर्मात्मा हो और जिसे स्वर्ग में जाने की इच्छा हो, वह सफेद महल में जावे और जो पापी हो और स्वर्ग न जाना चाहता हो वह काले महल में जावे।

शहर के सब लोग सफेद महल में भर गए। भला काले महल में जाकर पापी कौन बने ? फिर भी एक आदमी उस काले महल में भी गया।

महाराज श्रेणिक को साथ लेकर अभयकुमार सफेद महल में आये। दोनों एक-एक सिंहासन पर बैठ गए। हुक्म दिया गया कि महल

में से एक-एक निकले।

सब से पहले एक वेश्या निकली। अभयकुमार ने उससे पूछा—तुम भी यहाँ आई हो?

वेश्या—हाँ अन्नदाता!

अभय—क्यों? क्या पुण्य किया है जो स्वर्ग जाना चाहती हो?

वेश्या—मैं जो कुछ करती हूँ, अच्छा ही करती हूँ।

अभय—क्या अच्छा करती हो?

वेश्या—हमारे बिना संसार का सौन्दर्य नहीं है। हम संसार में सौन्दर्य-भावना बढ़ाती हैं। कोई कह सकता है कि हम गरीबों से पैसे लेती हैं, मगर थोड़े-से पैसों में ही उसे स्वर्ग-सुख का अनुभव करा देती हैं। मैं सभी को आनन्द देती हूँ। किसी की चोरी नहीं करती, डाका नहीं डालती। फिर क्या बुरा करती हूँ जो इस महल में आने की अधिकारिणी नहीं हूँ।

अभयकुमार ने वेश्या को जाने के लिए कहकर महाराज श्रेणिक से कहा—महाराज, देखिए! यह भी स्वर्ग-सुख की इच्छुक है—स्वर्ग जाना चाहती है। यह जानती है कि वह नरक के योग्य काम कर रही है, फिर भी यहाँ आई है। आत्मा तो इसकी भी स्वर्ग चाहती है, परन्तु स्वर्ग जाने के योग्य काम नहीं करती। मैंने आपसे ठीक ही निवेदन किया था कि लोग कल्याण के इच्छुक होने पर भी कल्याण के काम नहीं करते।

अभयकुमार ने फिर दूसरे आदमी को बुलवाया। दूसरा आदमी कसाई था। अभयकुमार ने उससे पूछा—क्या पुण्य किया है जो इस महल में आए हो?

कसाई—सरकार! हमने बुरा ही क्या किया है? अगर हम बुरे हैं तो सभी बुरे हैं। हमारी ही तरह बहुत लोग छुरी चलाया करते हैं। अन्तर इतना ही है कि हम प्रकट में चलाते हैं और दूसरे भीतर-ही-भीतर चलाया करते हैं। हम तो मेहनत भी करते हैं और

कसाई के रूप में प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु बहुत-से लोग हम से भी बढ़ कर हैं जो प्रकट में कसाई नहीं हैं, मगर कसाई का काम करने में हमें भी मात कर देते हैं। हम सिर्फ पशुओं को ही मारते हैं पर वे मनुष्यों के गले काटा करते हैं। फिर आप हमीं पर क्यों नाराज होते हैं?

कसाई के बाद चोर आया। अभयकुमार उसे भली-भांति पहचानता था। उसने पूछा—ओह, आप भी यहाँ आये हैं?

चोर—क्यों महाराज! करें क्या? हर रोज भूख लगती है और पैसा पास में नहीं होता। तब क्या भूखे मर जाएँ? और पत्नी तथा बाल-बच्चों का भी गला घोंट दें? उधर उन्हें देखिए जो गरीबों को सता-सताकर अपनी तिजोरियाँ भरते हैं। उनके पास बेकार धन पड़ा रहता है। उसमें से थोड़ा-बहुत हम ले आते हैं। साहस करके लाते हैं, जान पर खेलकर लाते हैं और अपना तथा बाल-बच्चों का पेट पालते हैं। यह कौन-सी बड़ी बुरी बात हो गई।

अभयकुमार ने श्रेणिक से कहा—महाराज! जिनके पाप प्रकट हैं, वे भी अपना पाप छिपाने का ही प्रयत्न करते हैं, तो जिनके पाप छिपे हैं वे कब प्रकट करने लगे? दुनिया धर्मी बनना चाहती है, स्वर्ग में जाना चाहती है, मगर कर्म ऐसे करती है! अब स्वर्ग मिले तो कैसे? लोग इस संसार को देखकर घबरा उठेंगे पर मैं नहीं घबराता। क्योंकि—

सिद्धों जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म-मैल का आंतरा, बूझे बिरला कोय॥

चिदानन्द सब का उज्ज्वल है। सब की दौड़ कल्याण की ही ओर है। मगर जीव मोह के कारण कल्याण की इच्छा रखकर भी अकल्याण के काम करता है।

सफेद महल से उठकर दोनों काले महल में आए। यह महल खाली पड़ा था। केवल एक सुशील श्रावक जो धर्मात्मा के रूप में प्रसिद्ध था, इसमें आया था। राजा उसे देखकर चौंके और बोले—

तुम यहाँ क्यों आए ?

श्रावक—महाराज ! बहुत दिनों से मैं अपने पाप को निकालना चाहता था। मैं धर्मात्मा प्रसिद्ध हूँ परन्तु मुझसे विश्वासघात का पाप हो गया है। मैं इस पाप को प्रकट करने के लिए बहुत दिनों से इच्छुक था। पर हृदय की दुर्बलता से ऐसा नहीं कर सका। अब आपका ढिंढोरा पिटने से मैंने अपने हृदय को दृढ़ किया और अपने पाप को आपके सामने प्रकट कर देने का अच्छा अवसर देखा। इसीलिए यहाँ हूँ। मैंने अपने आपको असली रूप में प्रकट कर देने में ही कल्याण समझा। इस पाप को बाहर निकालकर मैं स्वच्छ हो जाऊँगा।

अभयकुमार ने कहा—महाराज ! कल्याण की चाह इनकी भी है और उन लोगों की भी है। चाह में फर्क नहीं है, मार्ग में फर्क है। पाप को छिपाने और पाप को प्रकट करने में से कौन-सा मार्ग ठीक है, इसका निर्णय आप कीजिए।

तात्पर्य यह है कि काम करो काले महल में जाने के और इच्छा रखो सफेद महल में जाने की, यह बात नहीं चलेगी। ढोंग करके अपने आपको भले ठग लो, मगर कर्म-फल से बचना सम्भव नहीं है।

२४ : जैसी मति वैसी गति

एक बार राजा श्रेणिक ने 'अमारी' का ढिंढोरा पिटवाया अर्थात् किसी भी जीव की हत्या न करने की घोषणा की। यह घोषणा सुनकर कालकसुरी नामक कसाई कहने लगा—किसी भी जीव की हत्या न करने की प्रेरणा करने वाले शास्त्र झूठे हैं। सच्ची बात यही है कि जीवों को कत्ल करना चाहिए। उसने राजा से भी कहा—आप कत्ल करना सही न मानते हों तो यह तलवार बाँधना त्याग दीजिए। फिर देखिएगा कि राज्य की क्या दशा होती है और कौन आपका कहना मानता है ?

राजा ने कसाई को समझाने का प्रयत्न किया—युद्ध करने के लिए आने वाले का सामना करना जुदी बात है और निरपराध प्राणियों की हत्या करना जुदी बात है।

कालक ने कहा—राजन्, आपका कहना यथार्थ नहीं है। जैसे तलवार से आपका राज्यशासन चलता है, उसी प्रकार छुरी से कत्ल द्वारा हमारी आजीविका चलती है। ऐसी स्थिति में मैं जानवरों की हत्या करना नहीं छोड़ सकता।

राजा समझ गया कि कसाई बातों से मानने वाला नहीं है। ऐसे लोग तो सजा से ही ठिकाने आ सकते हैं।

राजा ने कसाई को जेल में बन्द करा दिया। कालक जेल में पड़ा-पड़ा भी अपने शरीर का मैल उतारकर और उसके पाड़े (भैंसे) बना-बनाकर, उनके ऊपर तलवार की तरह हाथ से घाव मारने लगा। वह घाव मारता और जोर-जोर से चिल्लाता—एक,

दो, तीन............। यह चिल्लाहट सुनकर राजा ने पूछा—यह कौन है जो एक, दो, तीन, चिल्लाया करता है ? सिपाहियों ने उत्तर दिया—महाराज ! कालक कसाई कारागार में पड़ा-पड़ा ही अपना धन्धा चलाया करता है।

यह कैफियत सुनकर श्रेणिक ने अपने बुद्धिशाली पुत्र और मंत्री अभयकुमार से कहा—इस कसाई को किस प्रकार सुधारना चाहिए ? यह तो कहना मानता ही नहीं है !

अभयकुमार बोले—इन संस्कारों को सुधारने का मार्ग दूसरा ही है। वह मार्ग कौनसा है, यह बात मैं बाद में आपसे निवेदन करूँगा।

इसके बाद अभयकुमार ने कालक के लड़के सुलक के साथ मित्रता की। मित्रता भी इतनी गाढ़ी कि मानो दो देह और एक आत्मा हों। अभयकुमार की संगति से सुलक धर्मनिष्ठ बन गया।

अभयकुमार ने एक रोज अपने पिता श्रेणिक से कहा—कालक तो अभी तक नहीं सुधरा, परन्तु आप उसके लड़के को बुलवाकर पूछिए कि कसाई का धन्धा उसे कैसा लगता है ? राजा ने सुलक को अपने पास बुलाया। उससे पूछा—तुम्हारा पिता जेल में पड़ा है, फिर तुम्हारे घर की आजीविका जीवों को मारे बिना किस प्रकार चलती है ?

सुलक—जीवों को मारने से ही आजीविका चल सकती है और बिना मारे नहीं चल सकती, ऐसी धारणा मेरी नहीं रही। यह ख्याल गलत है। चोर भी यही कहता है कि चोरी किये बिना मेरी आजीविका नहीं चलती। मगर जो चोरी नहीं करते वे क्या सभी भूखे मरते हैं ? इसी प्रकार दुनिया क्या जीव मार-मारकर ही आजीविका करती है ? मैं इस निश्चय पर आया हूँ कि किसी और भी तरीके से बखूबी आजीविका चलाई जा सकती है और इसी प्रकार मैं अपनी आजीविका चला भी रहा हूँ।

सुलक का विचार जानकर राजा श्रेणिक को बहुत प्रसन्नता हुई।

अभयकुमार ने पिता से प्रार्थना की—कालक का पुत्र सुधर गया है, अब इसके पिता को कारागार से मुक्त कर देना चाहिए।

अभयकुमार की प्रार्थना स्वीकृत हुई। राजा ने कालक को कारागार से मुक्त कर दिया। कालक अपने लड़के से मिला और जब उसने लड़के के विचार सुने और रंगढंग देखे तो वह कहने लगा—मैं जेल में रहा तो मेरा छोकरा ही बिगड़ गया।

कुछ दिनों बाद कालक बीमार हुआ और मरने लगा। मगर सरलता से उसके प्राण नहीं निकलते थे। सुलक ने उससे पूछा—पिताजी, आपको किस बात की चिन्ता? आपका जी किसमें अटका है?

कालक—चिन्ता यही है कि मेरे मरने के बाद तू मेरा धन्धा नहीं चलाएगा। इसी सोच-विचार से मैं छटपटा रहा हूँ।

सुलक—आप चिन्ता न करें। आपके बाद मैं धंधा अवश्य करूँगा।

कालक—पक्का वचन दे।

सुलक ने वचन दिया और कालक ने प्राण त्यागे। सुलक सोचने लगा—अभयकुमार का कहना एकदम सत्य था कि मनुष्य के हृदय में जो संस्कार जड़ पकड़ जाते हैं, वे अन्तिम समय तक भी नहीं छूटते और इस कारण जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।

आयु बंधने से पहले जैसी मति होती है वैसी गति होती है और आयु बंधने के बाद जैसी गति होनी होती है वैसी मति हो जाती है।

कालक मर गया। सुलक के कुटुम्बियों ने उससे कहा—अब अपना कसाई का धन्धा करो, तुमने पिता को वचन दिया था।

सुलक ने कहा—मैंने धन्धा करने का वचन दिया है सो करूँगा। जीवों की हत्या करना कोई धन्धा नहीं है।

कुटुम्बी बोले—तुम पाप से क्यों डरते हो? तुम्हें जो पाप

होगा उसका फल हम भोग लेंगे ।

सुलक ने कहा—ठीक है और उसने एक छुरा मंगवाकर अपने हाथ में मार लिया । फिर कुटुम्बी जनों से कहा—मुझे बड़ी वेदना हो रही है, थोड़ी-थोड़ी सब बाँट लो ।

कुटुम्बी कहने लगे—पागल तो नहीं हो गया है ! अपने हाथ से छुरा मार लिया और दर्द बाँट लेने के लिए हम से कहता है ! दर्द किस तरह बाँटा जा सकता है ।

सुलक—जब आपके पास ही मैं बैठा हूँ तब भी आप मेरा दर्द नहीं बाँट सकते तो परलोक में दूर हो जाने पर मेरा पाप आप किस प्रकार ले सकेंगे ?

कुटुम्बी जन चुप हो गये । क्या उत्तर देते ? फिर भी एक बोला—तो फिर पिता को दिये वचन का पालन किस प्रकार करोगे ?

सुलक—मैंने धन्धा करने का वचन दिया है और धन्धा करके अपने वचन का पालन करूँगा । पहले आप लोगों को भोजन कराऊँगा, उसके बाद मैं भोजन करूँगा ।

अभयकुमार ने सुलक के साथ मैत्री करके उसे सुधार लिया । घृणा पाप से करनी चाहिए, पापी से नहीं । पापी के पाप सीखने के लिए नहीं, किन्तु उसके पाप छुड़ाने के लिए उसे मित्र बनाना चाहिए ।

२५ : सत्य की महिमा

मनुष्य को जब तक अनुभव नहीं हो जाता, तब तक उसकी समझ में सत्य का महत्त्व नहीं आता। जब उसके सिर पर कोई ऐसी आपत्ति आ पड़ती है—जो असत्य का आश्रय लेने से उत्पन्न हुई हो तो तत्काल ही वह समझ जाता है कि सत्य का क्या महत्त्व है! इसके लिए एक प्राचीन कथा का उदाहरण दिया जाता है—

एक श्रावक ने अपने पुत्र को नाना प्रकार की शिक्षाएँ देने का प्रयत्न किया, अनेक प्रकार से उसे समझाने की चेष्टा की किन्तु उसके दिमाग में एक भी न जँची और वह कुसंगति छोड़ने को तैयार न हुआ। कुसगति का जो फल हो सकता है, वही हुआ। धीरे-धीरे थोड़े ही दिनों में वह लड़का चोरी करने लगा। पिता ने फिर भी अनेक प्रकार के प्रयत्न किये, किन्तु सब निष्फल। वह लड़का न सुधर सका और दिन-दिन अपने विषय में नैपुण्य प्राप्त करने लगा। पिता से तिरस्कृत होकर भी उसने अपना व्यवसाय बन्द न किया और एक दिन राजा के भण्डार पर छापा मारा। किन्तु राजा की निपुणता से चोरी का पता लग गया तथा चोर भी पकड़ा गया। पकड़ लिये जाने पर उस लड़के ने यह जाल रचा कि जिस दिन राज्य-भंडार में चोरी हुई, उस दिन मैं इस नगर में था ही नहीं। इस बात को उसने अपने मित्रों की गवाही दिलाकर प्रमाणित कर दी। चालाकी पूरी चली, यह देखकर राजा दंग रह गया। उसने अपने मन में सोचा कि यद्यपि चोरी इसी ने की है, तथापि जब तक इसकी चोरी नियमानुसार प्रमाणित न हो जाय तब तक इसे चोर कैसे ठहराया जा

सकता है ? इतने ही में राजा को एक युक्ति याद आई। इस लड़के का पिता सत्य-भाषण के लिए प्रख्यात था। राजा ने उसी की साक्षी पर मुकदमे का दार-मदार छोड़ दिया। लड़के ने जब यह जाना कि मेरे पिता की साक्षी पर ही मुकदमे का दार-मदार है, तो वह दौड़ा हुआ अपने पिता के पास गया। वहाँ जाकर उसने पिता के पैरों पर गिरकर प्रार्थना की, कि—यद्यपि चोरी मैंने ही की है, तथापि यदि आप राजा के सन्मुख यह कह देंगे कि उस दिन मेरा लड़का नगर में नहीं था, तो मैं बच जाऊँगा। राजा आपका कहना मानेंगे, अतः यदि आप मेरी बात को—जो लगभग प्रमाणित हो चुकी है—थोड़ी और पुष्ट कर देंगे, तो मैं साफ बच जाऊँगा।

लड़के ने यद्यपि नम्रता-पूर्वक उक्त प्रार्थना की, किन्तु वह श्रावक ऐसा न था। उसे सत्य की अपेक्षा अपना अन्यायी पुत्र कदापि प्रिय नहीं हो सकता था। वह एक विद्वान् के निम्न कथन का कट्टर समर्थक था—

> आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे वापि मानवाः।
> अनृतं ये न भाषन्ते ते बुधाः स्वर्गगामिनः ॥

जो अपने, पराये या अपने पुत्र के लिये भी असत्य नहीं बोलते, वे ही बुद्धिमान देवलोक को जाते हैं।

उसने उत्तर दिया कि यद्यपि पिता होने के कारण तेरी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है, लेकिन 'सत्य' मेरा सर्वस्व है। सत्य ही मेरा परम-मित्र है, सत्य से मेरी रक्षा होती है, अतः उस परम-प्रिय सत्य को छोड़कर मैं तेरे अन्याय का समर्थन करने के लिए झूठ बोलूं, यह कदापि सम्भव नहीं है। यदि सत्य से तू बचता हो तो मैं, तू कहे वैसा कर सकता हूँ।

अन्यायी-मनुष्य में क्रोध बहुत होता है। पिता का यह उत्तर

तैयार हो ? क्या तुम्हीं अनोखे बाप हो या दुनिया में और किसी के भी बाप हैं ? अच्छी सत्य की पूंछ पकड़ रखी है कि लड़का चाहे बचे या मर जाय, किन्तु आप अपने सत्य को ही लिये चाटा करेंगे।

पिता—पुत्र ! तेरे पर मेरी अत्यन्त दया है, लेकिन तेरे सिर पर इस समय क्रोध का भूत सवार है । इसी से मेरा अच्छा स्वरूप भी तुझे उल्टा दीख रहा है और तू ऐसा बोल रहा है। यदि ऐसा न होता तो तू स्वयं ही समझता कि मैं तुझे बचाने के लिए ऐसा असत्य भाषण कर दूं कि यह उस दिन यहाँ नहीं था, तो मेरा 'सत्य व्रत' भंग हो जाय ।

पुत्र—तुम्हीं मेरी जान ले रहे हो ।

पिता—मैं तेरी जान नहीं ले रहा हूँ, किन्तु तेरा पाप तेरी जान ले रहा है । मैं तो तेरी रक्षा करना चाहता हूँ। इसलिए मैं तुझे बचपन से ही बुरे कर्म से बचने का उपदेश देता रहा, लेकिन तू मेरी शिक्षा की उपेक्षा करता रहा । अब भी मैं तुझे यही उपदेश देता हूँ कि सत्य की शरण जा, सत्य ही तेरी रक्षा करेगा । यदि असत्य से प्राण बच भी गये, तब भी मृतक के ही समान है और सत्य से प्राण गये, तब भी जीवन से श्रेष्ठ है ।

निश्चित समय पर श्रावक को राजा ने बुलाया और गवाह के कठघरे में खड़ा करके पूछा कि—कहिये सेठजी, जिस दिन राज्य-भण्डार में चोरी हुई, उस दिन क्या तुम्हारा लड़का यहाँ नहीं था? और उसने चोरी नहीं की है ?

सेठ—उस दिन वह नगर में ही था और चोरी उसी ने की है

धन्य है इस श्रावक को ! जिसने अपने पुत्र के लिए भी झूठ बोलना उचित न समझा। यदि यह चाहता तो झूठ बोलकर अपने लड़के को निरपराध सिद्ध कर सकता था, लेकिन उसने अपने लड़के से सत्य को कहीं विशेष उच्च समझा । यह श्रावक तो अपने लड़के के लिये भी झूठ नहीं बोला, लेकिन आज के लोग कौड़ी-कौड़ी के

लिये झूठ बोलने में नहीं हिचकिचाते। इतना ही नहीं, वल्कि अकारण ही हँसी-मजाक और अपनी या दूसरे की प्रशंसा तथा निन्दा के लिये भी झूठ को ही महत्त्व देते हैं। कहाँ तो यह श्रावक, जिसने प्राण-प्रिय-सन्तान को भी सत्य से तुच्छ समझा और कहाँ आज के लोग, जो सत्य को कौड़ियों से भी तुच्छ समझते हैं। अस्तु।

यदि श्रावक चाहता तो झूठ वोल सकता था, लेकिन वह इस वात को जानता था कि पुत्र की रक्षा वास्तव में सत्यवादी ही कर सकता है, मिथ्यावादी नहीं।

सेठ का उत्तर सुनकर राजा धन्यवाद देता हुआ सेठ से कहने लगा—तुम्हारे जैसे सत्यपात्र सेठ मेरे नगर में मौजूद हैं, यह जानकर मेरे आनन्द की सीमा नहीं रही। मेरे नगर में जैसे चोर हैं, वैसे ही सर्वथा सत्य वोलने वाले मनुष्य भी मौजूद हैं, यह कितने आनन्द की वात है! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, अतः तुम इच्छानुसार याञ्चा कर सकते हो। मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने की प्राणप्रण से चेष्टा करूँगा।

सेठ प्रतीक्षा कर रहा था कि देखें लड़के को उसके अन्याय का क्या दण्ड मिलता है, किन्तु राजा के मुख से यह सान्त्वनापूर्ण वचन सुनकर वह एकान्त में जा बैठा और अपने लड़के को बुलाकर उससे वात-चीत करने लगा।

पिता—तुझ पर चोरी का अपराध प्रमाणित हो गया है, अव तुझे जीने की इच्छा है या मरने की? तू मुझे कहता था कि झूठ वोलकर वचाओ, किन्तु अव देख कि सत्य वोलकर भी मैं तुझे वचा सकता हूँ। धर्म रहे तो जीवित रहना उत्तम है किन्तु यदि धर्म जाने की स्थिति उत्पन्न हो जाय, तो धर्म जाने के पूर्व मृत्यु श्रेष्ठ है। यदि तुझे जीवित रहने की इच्छा हो तो पापकर्मों को छोड़कर सत्यमार्ग ग्रहण कर। यदि तू मेरे धर्म का अधिकारी वनना चाहे तो मैं राजा से तुझे छोड़ देने की प्रार्थना करूँ। इसके पश्चात यदि

मैं तेरा आचरण अच्छा देखूंगा तो तुझे अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा, अन्यथा नहीं।

पुत्र—आपने पहले भी मुझे यही उपदेश दिया था, किन्तु मैं बराबर कुमार्ग पर चलता रहा। यदि अब मैं जीवित बच जाऊँगा, तो सदैव अच्छा आचरण रखूंगा। पिताजी! थोड़ी देर पहले आप मुझे पिशाच के समान मालूम होते थे, किन्तु अब आपके वचन सुन-कर मेरी दृष्टि ऐसी स्वच्छ हो गई है कि आप मुझे ईश्वर के सम पवित्र मालूम होते हैं। जहाँ सत्य है वहीं ईश्वर है, यह बात आज समझ सका। आप धन्य हैं जो सत्य-व्रत के सन्मुख पुत्र-प्रेम व हेय समझते हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ और प्रतिज्ञा करता कि भविष्य में मैं सत्य का पालन करूँगा। यदि मैं अपने इस व्रत क ठीक तरह से पालन न कर सकूंगा तो प्राण त्याग दूंगा। अब आपकी इच्छा पर निर्भर है—चाहे जिलावें या मारें।

हृदय की साक्षी हृदय भरता है। जब सामने वाले का हृदय स्वच्छ होगा तो तुम्हारा भी हृदय स्वच्छ ही रहेगा।

लड़के की स्वच्छ हृदय की कही हुई यह बात सुनकर सेठ राजा के पास गया और प्रार्थना की कि मेरा लड़का भविष्य में सत्य मा पर चलने का सच्चे हृदय से प्रण करता है, अतः मैं आप से यह चाहता हूँ कि आप उसे छोड़ दें। मुझे और किसी बात की आव-श्यकता नहीं है।

राजा ने कहा—हम अपराधी को इसीलिए दण्ड देते हैं कि वह भविष्य में अपराध न करे। किन्तु यदि कोई अपराधी सच्चे दिल से अपने अपराध पर पश्चात्ताप कर ले, तो हमें उसके छोड़ देने पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मैं तुम्हारे विश्वास दिलाने पर इसे छोड़ता हूँ और आशा करता हूँ कि यह अब तुम्हारे आदर्श से पवित्र बन जायगा।

पहले के राजा लोग अपराधी को कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाने

के लिये दंड दिया करते थे, आजकल की तरह जेलों में ठूँसकर केवल बन्दियों की संख्या बढ़ाना उन्हें अभीष्ट न था। वे राज्य में शान्ति और प्रजा को सुखी बनाने के इच्छुक रहा करते थे। यदि अपराधी सच्चे हृदय से अपने अपराध का पश्चात्ताप करके भविष्य में फिर अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता तो उसे क्षमा कर दिया जाता था। ऐसी उदारता का प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ा करता है और भविष्य में वह कुमार्ग पर चलने की इच्छा नहीं करता। इसके विरुद्ध, आधुनिक समय के लिए सुना जाता है कि प्रमाणाभाव से अपराधी को अपराध करते हुए भी चाहे छोड़ दिया जाय किन्तु अपराधियों के पश्चात्ताप और भविष्य में अपराध न करने की प्रतिज्ञा का कोई परिणाम नहीं होता। बल्कि, उन्हें जेल भेजकर या शारीरिक और आर्थिक दंड देकर निर्लज्ज बना दिया जाता है। निर्लज्ज हो जाने पर अपराध करने से भय नहीं होता और प्रायः अपराधी की आयु अपराध करने में ही व्यतीत होती है। सारांश यह कि ऐसा होने पर न तो राजा को ही शान्ति मिलती है, न प्रजा को ही और जिस अभि-प्राय से अपराधी को दण्ड दिया जाता है, फल उसके विपरीत होता है। अस्तु।

राजा ने उस सेठ को नगर-सेठ बनाया। राजा को यह विश्वास था क आवश्यकता पड़ने पर यह सेठ मुझे सच्ची-सम्मति ही देगा, झूठी नहीं।

पूर्वकाल में राजा लोग सत्यवादी की ही प्रतिष्ठा करते थे, झूठे की नहीं। लेकिन आजकल तो विशेषतः वे ही लोग राजा के प्रतिष्ठा-पात्र हो सकते हैं जो झूठ बोलने में निपुण हों, झूठी प्रशंसा करना, हां-में-हां मिलाना और दूसरे की निन्दा करना जिन्हें अच्छी तरह आता हो। इस विपरीतता का परिणाम भी स्पष्ट है। इन जी-हुजूरों के ही कारण प्रायः राजा लोगों को हानि पहुँचा करती है और प्रजा से वैमनस्य रहता है। ऐसे अनेक लोगों की जगह यदि

राजा को एक भी सच्ची सम्मति देने वाला हो और राजा उसकी सम्मति की अवहेलना न करे तो अशान्ति का कोई कारण न रह जाय। राजा और प्रजा में प्रेम भी रहे तथा सुख-समृद्धि की भी वृद्धि हो।

सत्य के प्रताप से सेठ ने नगर-सेठ का पद प्राप्त किया, दण्ड पाते हुए पुत्र को भी बचा लिया और अपने दुराचारी पुत्र को सदाचारी भी बना लिया।

सत्य-मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन भी है और फूलों के बिछौने पर चलने के समान सरल भी। इसमें प्रकृति की भिन्नता का अन्तर है। ऐसे मनुष्य भी हैं जो अकारण ही असत्य बोलते हैं और सत्य-व्यवहार को तलवार की धार पर चलने के समान कठिन मानते हैं। उनका विश्वास है कि सत्य-व्यवहार करने वाला मनुष्य संसार में जीवित ही नहीं रह सकता। दूसरे ऐसे भी मनुष्य हो चुके हैं और हैं जो असत्य व्यवहार करने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य-व्यवहार उनके लिये फूल की सेज है। फिर उस मार्ग में उन्हें चाहे कितने ही कष्ट हों, किन्तु उसकी परवाह किये बिना ही प्रसन्नता-पूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहते हैं।

यथार्थ है। यह बात अनुभव-सिद्ध है कि जो मनुष्य जिस प्रकार व उपार्जित भोजन करता है, उसकी बुद्धि वैसी ही हो जाया करती है श्रीकृष्ण ने इसी सिद्धान्त को सामने रखकर दुर्योधन के यहाँ भोजन करने से इनकार कर दिया था और विदुर के यहाँ भोजन किया था।

कई लोग कहते हैं कि सामायिक करते समय न मालूम क्यों हमारा चित्त स्थिर नहीं रहता। लेकिन ऐसा कहने वाले लोग यह विचार नहीं करते कि अनीति से पैदा किया हुआ अन्न पेट में होने पर मन स्थिर कैसे रह सकता है?

जिनदास इस बात का विश्वास पहले ही कर लिया करते थे कि इसका भोजन कैसा है। इसलिये उन्होंने व्यापारी से अपना आय-व्यय का लेखा बताने को कहा। व्यापारी ने उत्तर में कहा कि—आप तो स्वयं नीतिज्ञ हैं और भली-भाँति जानते हैं कि अपनी आय का भेद दूसरे को नहीं बताया जाता। ऐसा होते हुए भी मुझे आय-व्यय का लेखा बताने के लिये बाध्य करना कैसे उचित कहा जा सकता है?

जिनदास—यदि ऐसा है और आप अपना लेखा नहीं बताना चाहते हैं तो आपकी इच्छा। लेकिन मैं अपने निश्चयानुसार बिना विश्वास किये भोजन करने में असमर्थ हूँ।

व्यापारी जिनदास के दृढ़-प्रतिज्ञ शब्दों को सुनकर विचारने लगा कि इनकी प्रतिज्ञा तो ऐसी है और ऐसे सत्पुरुष को बिना भोजन कराये घर से जाने देना भी अपने भाग्य को बुरा बनाना है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? क्योंकि अतिथि को निराश लौटाना उचित नहीं है।

व्यापारी विचारता है कि सामान्य-अतिथि के लिए भी यह बात है तो फिर ये तो महापुरुष हैं। इसके सिवाय इनकी बातों और आकृति से भी जान पड़ता है कि ये मेरा लेखा मेरी अप्रतिष्ठा के लिए नहीं देखना चाहते किन्तु अपनी प्रतिज्ञानुसार जानना चाहते हैं

कि मेरा आय-व्यय किस प्रकार से होता है। ऐसी दशा में मेरा कर्तव्य है कि मैं सच्ची बात कह दूँ और इन्हें भोजन किये बिना न जाने दूँ।

इस प्रकार सोच-विचारकर व्यापारी ने जिनदास से कहा कि—आप लेखा देखकर क्या करेंगे, सच्ची बात मैं जबान से ही सुनाये देता हूँ। वास्तव में तो मैं रात को चोरी करके धन कमाता हूँ और दिन को व्यापार का ढोंग रचकर प्रतिष्ठा प्राप्त करता हूँ।

व्यापारी की बात सुनकर जिनदास ने कहा—ऐसी दशा में मैं आपके यहाँ भोजन नहीं कर सकता।

व्यापारी—यह तो आपका अन्याय है। दूसरों की अप्रतिष्ठा भी करना और भोजन भी न करना, यह कैसे उचित है?

जिनदास—यद्यपि मैंने आपकी कोई अप्रतिष्ठा तो नहीं की है, फिर भी यदि आप मेरी एक बात को स्वीकार कर लें तो मैं भोजन कर सकता हूँ।

व्यापारी के पूछने पर जिनदास ने कहा—आप चाहे अपने चोरी के कार्य को बन्द न करें, परन्तु सदा सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर लें। यदि आपने इस प्रतिज्ञा को धारण कर ली, तो मैं भोजन कर लूंगा।

व्यापारी के ऊपर प्रतिभाशाली जिनदास के शब्दों का बहुत प्रभाव पड़ा। उसने जिनदास की बात स्वीकार करके असत्य न बोलने की प्रतिज्ञा ली। व्यापारी के प्रतिज्ञा करने पर जिनदास भोजन करके व्यापारी के यहाँ से विदा हो गये।

सदा की भाँति व्यापारी रात के समय चोरी करने निकला। परन्तु आज राजा श्रेणिक और अभयकुमार प्रजा का सुख-दुःख जानने के लिए नगर में चक्कर लगा रहे थे।

पहले के राजा लोग प्रजा की रक्षा का भार कर्मचारियों पर ही न छोड़कर, उसका सुख-दुःख जानने के लिए स्वयं वेश बदलकर नगर और राज्य में भ्रमण किया करते थे। ऐसा करने से प्रजा की वास्तविक परिस्थिति की उन्हें जानकारी हो जाती थी और उसके

फलस्वरूप प्रजा कर्मचारियों के अत्याचारों से सुरक्षित रहकर शान्ति-पूर्वक अपने दिन व्यतीत करती थी। लेकिन आज के राजा लोगों को यह पता शायद ही होगा कि हमारा राज्य कैसा है, कितना है और प्रजा की दशा क्या है। पता हो भी कहाँ से? उन्हें तो प्रजा की गाढ़ी कमाई बहाने और आनन्द-विलास करने से ही फुरसत न मिलती होगी। ऐसी दशा में प्रजा तो केवल कर्मचारियों के ही सहारे रही, चाहे वे उस पर अत्याचार करें या सुखी रखें। किन्तु राजा श्रेणिक आज के राजाओं की तरह विलास-प्रिय और प्रजा के धन को अकारण उड़ाने वाला न था। वह स्वयं प्रजा के सुख-दुःख का वृत्तान्त जानकर प्रबन्ध किया करता था।

आधी रात के समय अकेले जाते देख अभयकुमार ने व्यापारी को रोककर पूछा कि—कौन है? व्यापारी इस प्रश्न को सुनकर भयभीत अवश्य हुआ, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा याद आते ही उसने निर्भय हो उत्तर दिया—चोर। व्यापारी का उत्तर सुनकर, राजा और कुमार विचारने लगे कि—कहीं चोर भी अपने आपको चोर कहता है? यह झूटा है। उन्होंने व्यापारी से प्रश्न किया, कहाँ जाता है? व्यापारी ने फिर निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया—चोरी करने।

व्यापारी के इस उत्तर को सुनकर राजा और कुमार ने सोचा कि यह कोई विक्षिप्त है। विनोद के लिए उन्होंने फिर प्रश्न किया—चोरी कहाँ करेगा? व्यापारी ने उत्तर दिया—राजा के महल से।

व्यापारी के इस उत्तर से राजा और कुमार का अनुमान और पुष्ट हो गया कि वास्तव में यह विक्षिप्त ही है। उन्होंने व्यापारी को अच्छा जाओ, कहकर जाने दिया। इस प्रकार चोर कहते हुए भी न पकड़े जाने से व्यापारी बड़ा ही प्रसन्न हुआ। वह जिनदास की प्रशंसा करने लगा कि मैं अपने आपको चोर बतलाता हूँ, परन्तु मुझे कोई पकड़ता नहीं है। यदि उस समय मैं भागता या झूठ बोलता तो अवश्य ही पकड़ लिया जाता, परन्तु सत्य बोलने से बच गया।

व्यापारी इसी विचार-धारा में मग्न राजमहल के पास जा पहुँचा। योग ऐसा मिला कि व्यापारी जिस समय राजमहल को पहुँचा, उस समय राजमहल के पहरेदार नींद में झूल रहे थे। ऐसा समय पाकर व्यापारी निधड़क महल में जा घुसा और कोष से रत्नों के भरे हुए दो डिब्बे चुराकर चलता बना।

लौटते समय व्यापारी को राजा और अभयकुमार फिर मिले। उनके प्रश्न करने पर व्यापारी ने अपने आपको पुनः चोर बताया। राजा और कुमार ने पहले वाला ही विक्षिप्त समझकर हंसते हुए प्रश्न किया कि कहाँ चोरी की और क्या चुराया ? व्यापारी ने उत्तर दिया कि—राजमहल में चोरी करके रत्नों के दो डिब्बे चुरा लाया हूँ। राजा ने व्यापारी को पहले ही विक्षिप्त समझ रखा था, इसलिए उसके इस उत्तर पर भी उन्हें कुछ सन्देह न हुआ और उसे जाने दिया।

व्यापारी अपने घर की ओर चलता जाता था और हृदय में जिनदास को धन्यवाद देता जाता था कि उन्होंने अच्छी प्रतिज्ञा कराई जिससे मैं बच गया। अन्यथा मेरे बचने का कोई कारण न था। अब मुझे भी उचित है कि कभी झूठ न बोलकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करूँ। इस प्रकार विचारता हुआ व्यापारी अपने घर को आया।

प्रातःकाल कोषाध्यक्ष को कोष में चोरी होने की खबर हुई। कोषाध्यक्ष कोष को देखकर और यह जानकर कि चोरी में रत्नों के दो ही डिब्बे गये हैं, सोचने लगा कि चोरी तो निश्चय ही हुई है, फिर ऐसे समय में मैं भी अपना स्वार्थ-साधन क्यों न कर लूं ? राजा को तो मैं सूचना दूंगा तभी उन्हें मालूम होगा कि चोरी हुई है और चोरी में अमुक वस्तु इतनी गई है।

इस प्रकार विचार कर कोषाध्यक्ष ने कोष में से रत्नों के आठ डिब्बे अपने घर रख लिये और राजा को सूचना दी कि कोष में से रात को रत्नों से भरे हुए दस डिब्बे चोरी चले गये।

इस सूचना को पाते ही राजा को रात की बात का स्म
हुआ। वह विचारने लगा कि रात को जिसने अपने आपको च
बताया था, सम्भवतः वही रत्नों के डिब्बे ले गया है। लेकिन उ
तो रत्नों के दो ही डिब्बे चुराकर लाने को कहा था, फिर दस डि
कैसे चले गये ? जान पड़ता है कि आठ डिब्बे बीच ही में गायब
गए हैं। इस तरह सोच-विचारकर राजा ने अभयकुमार को रा
वाले चोर का पता लगाने की आज्ञा दी।

नगर में घूमते-घूमते अभयकुमार उसी व्यापारी की दूका
पर पहुँचा और उसके स्वर को पहचानकर अनुमान किया कि र
को इसी ने अपने आपको चोर बतलाया था। अभयकुमार ने व्यापा
से पूछा कि क्या आपने रात को राजमहल में चोरी की थी ? य
हाँ, तो क्या चुराया था और चोरी की वस्तु मुझे बतलाइये। व्यापा
ने चोरी करना स्वीकार करके दोनों डिब्बों को अभयकुमार के साम
रख दिया। वह सत्य का महत्त्व समझ चुका था, इसलिये उसे ऐस
करने में किंचित् भी हिचकिचाहट न हुई।

रत्नों के डिब्बों को देखकर विश्वास करने के लिए अभयकुमा
ने व्यापारी से फिर प्रश्न किया कि क्या यही थे ?

व्यापारी ने इस प्रश्न का उत्तर भी 'हाँ' कहकर दिया।
कुमार ने डिब्बों सहित व्यापारी को साथ लेकर राजा के सम्मुख
उपस्थित किया। राजा कुमार की चातुरी पर प्रसन्न होकर कहने
लगा कि इसने तो दो ही डिब्बे चुराये थे जो मिल गये शेष आठ
डिब्बों का पता और लगाओ।

अभयकुमार ने अनुमान किया कि और डिब्बों में कोषाध्यक्ष
की ही चालाकी होगी। उसने कोषाध्यक्ष को बुलाकर कहा कि चोरी
गये हुए दस डिब्बों में से दो डिब्बे तो मिल गये, शेष आठ डिब्बे
कहाँ हैं ? कोषाध्यक्ष घबरा उठा और कहने लगा कि चोरी हुई तब
मैं तो अपने घर था, ऐसी अवस्था में मुझे यह क्या मालूम कि शेष

डिब्बे कहाँ हैं ?

अभयकुमार कोपाध्यक्ष की घबराई हुई दशा देख और उसका अस्थिर उत्तर सुनकर ताड़ गया कि आठ डिब्बों के जाने में इसी की बेईमानी है। उसने कोपाध्यक्ष को भय दिखाते हुए कहा कि—सत्य कहो, अन्यथा बड़ी दुर्दशा को प्राप्त होओगे।

झूठ कहाँ तक चल सकता है ? कोषाध्यक्ष के ओंठ भय के मारे चिपक-से गये और वह कहने लगा—आठ डिब्बे मैंने अपने ही घर में रख लिये हैं, मैं अपने कर्तव्य और सत्य से च्युत हो गया, इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

अभयकुमार ने कोपाध्यक्ष को भी आठ डिब्बों सहित राजा के सामने उपस्थित किया। कोपाध्यक्ष की धूर्तता और व्यापारी की सत्यपरायणता देख राजा ने कोपाध्यक्ष को तो बन्दीगृह भेजा और व्यापारी को कोपाध्यक्ष नियत किया।

राजा ने व्यापारी को अपराधी होते हुए भी सत्य बोलने के कारण अपराध का कोई दण्ड न देकर कोपाध्यक्ष नियत किया। इसका प्रभाव लोगों पर क्या पड़ा होगा, यह विचारणीय बात है। अपराध तो व्यापारी और कोपाध्यक्ष के समान ही थे। लेकिन व्यापारी सत्य बोला था और कोपाध्यक्ष झूठ। झूठ के कारण ही कोपाध्यक्ष अपने पद से हटाया जाकर जेल भेजा गया और व्यापारी को सत्य के कारण ही अपराध का दण्ड मिलने की जगह कोपाध्यक्षपद प्राप्त हुआ। राजा के ऐसा करने से लोगों के हृदय में सत्य के प्रति कितनी श्रद्धा और झूठ से कितनी घृणा हुई होगी, यह आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

व्यापारी ने चोरी ऐसा अपराध करके उसके दण्ड से बचने के लिए भी अपनी प्रतिज्ञा को तोड़कर झूठ का आश्रय लेना उचित नहीं समझा, लेकिन आज-कल के लोग साहूकारी में भी अपने व्रत का ध्यान न रख, प्रायः असत्य का ही आश्रय लेते हैं। इसका कारण है कि इन्हें सत्य पर विश्वास नहीं है और व्यापारी को सत्य पर

विश्वास हो गया था। लेकिन सत्य पर विश्वास करने और न करने का परिणाम भी इस कथा से स्पष्ट है।

व्यापारी जब कोषाध्यक्षपद पर पहुँच गया तब उसने अपने दूसरे दुर्गुण भी निकाल दिये और धर्मात्मा बन गया। अब उसकी भावना ऐसी हो गई कि उसने पहले जिस-जिसके यहाँ चोरी की थी वे सब वापिस लौटाने लगा।

इस कथा से प्रकट है कि जिनदास का केवल एक ही उपदेश मान लेने से व्यापारी पूरा धर्मात्मा बन गया और उसी के प्रताप से राज्य के कोषाध्यक्ष का पद प्राप्त किया।

सारांश यह है कि सत्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और कल्याण-कारक सिद्धान्त है। इसके पालन करने वाले को तो सदैव आनन्द है ही, किन्तु जो व्यक्ति सत्य का पालन करने वाले व्यक्ति के सम्पर्क में एक बार भी आ जाता है और उसकी एक भी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, तो वह भी भविष्य में अपना कल्याण-मार्ग पा जाता है।

२७ : पुरुषार्थ

यह संसार-समुद्र प्रलयकाल के तूफान से क्षुब्ध समुद्र के समान है। संसार-समुद्र में कर्म रूपी प्रलयकालीन पवन से तूफान उठ रहा है और कुटुम्ब-परिवार रूपी मच्छ-कच्छ जीव हैं। इस संसार-समुद्र को भी अपनी भुजाओं से पार करना कठिन है, फिर भी कोशिश करना कर्तव्य है।

हिम्मत करने वाले ही कठिन-से-कठिन कार्यों में भी सफलता पाते हैं। जो कायर पुरुष पहले से ही हिम्मत हारकर बैठा रहता है और कहता है कि भई, यह काम तो मुझसे नहीं होसकेगा, वह साध्य-कार्य में भी सफलता नहीं पा सकता।

किसी सेठ का एक लड़का जहाज की मुसाफिरी के लिए तैयार हुआ। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया। कहा—बेटा! अपने घर में बहुत धन है। जहाज में मुसाफिरी करना खतरनाक है। तू क्यों व्यर्थ कष्ट सहन करता है? मगर लड़का बड़ा उद्योगशील था। उसने पिता को उत्तर दिया—पिताजी, आपका कथन सत्य है, किन्तु इस धन को उपार्जन करने में आपने भी तो कष्ट सहन किये होंगे? फिर क्या मेरे लिए यह उचित होगा कि मैं स्वयं परिश्रम किये बिना ही इसका भोग करूं? अगर मैं इस धन को बिना परिश्रम किये ही खाने लगा और गुलछर्रे उड़ाने लगा तो किसी दिन आप ही मुझे कपूत कहने लगेंगे। कदाचित् पितृप्रेम के कारण आप न कहेंगे तो भी दुनिया का मुंह कौन बन्द करेगा? फिर इस धन का उपार्जन करके आपने जो ख्याति प्राप्त की है, वह ख्याति मैं कभी नहीं पा सकूंगा। बिना कमाई

खाने से मैं मिट्टी के पुतले के समान बन जाऊँगा। जब मैं उद्योग कर सकता हूँ तो फिर बिना कमाये खाना-पहनना मुझे उचित नहीं मालूम होता। अतः आप कृपा करके आज्ञा दीजिए और आशीर्वाद दीजिए।

अपने पुत्र की कार्यनिष्ठा और साहस देखकर पिता को सन्तोष हुआ। उसने कहा—ठीक है। सुपुत्र का यही कर्तव्य है कि वह अपने पिता के यश और वैभव में वृद्धि करे। उद्योगशील होना मनुष्य का कर्तव्य है। तुम्हारी प्रबल इच्छा है तो मैं रोकना नहीं चाहता।

साहूकार के लड़के ने जहाज तैयार करवाया। समुद्र में जहाज किस प्रकार तूफान से घिर जाता है और उस समय किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, इसका विचार करके उसने सब आवश्यक वस्तुएँ जहाज में रख लीं और यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते जहाज बीच समुद्र में पहुँचा तो अचानक तूफान घिर आया। जहाज के डूब जाने की स्थिति आ पहुँची। मल्लाहों ने तन-तोड़ परिश्रम किया मगर जहाज की रक्षा करने में सफल नहीं हो सके। अन्त में वे भी हार गये। उन्होंने कह दिया—अब हमारा वश नहीं चलता। जहाज थोड़ी देर में डूब जायगा। जिसे बचने का जो उपाय करना हो करे।

ऐसे विकट प्रसंग पर कायर पुरुष को रोने के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। कायर नहीं सोचता कि रोना व्यर्थ है। रोने से कोई लाभ न होगा। अगर बचाव का कोई रास्ता निकल सकता है तो सिर्फ उद्योग करने से ही।

मल्लाहों का उत्तर सुनकर साहूकार का लड़का पहले शौचादि से निवृत्त हुआ। उसने अपना पेट साफ किया। फिर उसने ऐसे पदार्थ खाये जो वजन में हल्के किन्तु शक्ति अधिक समय तक देने वाले थे। इसके बाद उसनें अपने सारे शरीर में तेल की मालिश की, जिससे समुद्र के पानी का चमड़ी पर असर न पड़े। फिर उसने शरीर से सटा हुआ चमड़े का वस्त्र पहना जिससे मच्छ-कच्छ हानि न पहुँचा

सके। इतना करने के बाद एक तख्ता लेकर समुद्र में कूद पड़ा। उस तख्ते के सहारे वह किनारे लगने के उद्देश्य से तैरने लगा।

साहूकार के लड़के ने सोचा—ऐसे समय में जहाज बड़ा नहीं, आत्मा बड़ा है। इसलिए जहाज को छोड़ देना ही ठीक है। जहाज छोड़ देने पर भी मृत्यु का भय तो है ही, लेकिन उद्योग करना आवश्यक है।

मनुष्य के जीवन में कई बार ऐसे संकटमय अवसर आ जाते हैं, जब उसकी बुद्धि थक जाती है। किसी प्रकार का निर्णय करना कठिन हो जाता है। एक ओर कुआ और दूसरी ओर खाई दिखाई देती है। ऐसे प्रसंग पर अपनी बुद्धि को ठिकाने रखना ही बुद्धिमत्ता है। 'परिच्छेदो हि पांडित्यम्' अर्थात् जो दो मार्गों में से एक मार्ग अपने लिए चुन लेता है, क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है, यह निर्णय कर लेता है, वही वास्तव में पण्डित पुरुष है। जो विपत्ति के समय अपनी बुद्धि खो बैठेगा और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय न कर सकेगा वह विपत्ति को और अधिक बढ़ा लेगा और बुरी तरह संकट में पड़ जायगा।

यह बात केवल लोकव्यवहार के लिए ही नहीं है, वरन् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी पुरुषार्थों के विषय में लागू होती है। 'संशयात्मा विनश्यति' संदेह में पड़े रहना और निर्णय न करना अपना नाश करना है। निर्णय किये बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

साहूकार के लड़के के सामने इस समय दो बातें उपस्थित थीं। एक थी जहाज को बचाने की और दूसरी अपने आपको बचाने की। जब जहाज का बचना संभव न रहा तो उसने बिना किसी दुविधा के आत्मरक्षा करने का निर्णय कर लिया। उसने विचार किया—अब जहाज से [illegible] पर भी मैं मर जाऊँगा तो कायरों की तरह क्यों मरूँ? [illegible] मरूँगा। यद्यपि इस विशाल समुद्र से तैरकर पार होना असम्भव है, लेकिन [illegible] सकूँगा। कायर की मौत मरना उचित नहीं।

लता मिले या न मिले, मैं अपना उद्योग नहीं छोड़ूंगा।

कार्य में जो सफलता की ही आशा रखता है, वल्कि सफलता की खातिरी करके ही जो कार्य करना चाहता है, वह कार्य नहीं कर सकता। वह भूल-चूक से कार्य को आरम्भ कर देता है और जब सफलता नहीं पाता तो उसके पश्चात्ताप का पार नहीं रहता। वह निराशा के गहरे कूप में गिर पड़ता है। इसीलिए कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

अर्थात्—तुझे कार्य करने का अधिकार है, फल की लालसा करने का अधिकार नहीं है। तू निष्कामभाव से अपना कर्तव्य पाल। फल तुझे खोजता फिरेगा। तू फल की आशा की भारी गठरी सिर पर लादकर चलेगा तो चार कदम भी नहीं चल सकेगा।

साहूकार का लड़का पटिया के सहारे हाथ-पैर मारता हुआ समुद्र में वह रहा था। उस समय समुद्र का देव उसके उद्योग देखकर सोचने लगा— इससे पूछना तो चाहिए कि जब मौत साम मुँह फाड़े खड़ी है, तब यह समुद्र को पार करने की निष्फल चेष्ट क्यों कर रहा है? देव ने आकर पूछा—ओ पुरुष! निरर्थक श्र करने वाला मूर्ख होता है। समुद्र को तैरकर पार करना सम्भ नहीं है और फिर तूफान के समय की तो बात ही क्या है? मृत्यु समय अनावश्यक परिश्रम क्यों कर रहा है? अब हाथ-पैर हिलाना छो दे और इच्छा हो तो भगवान का नाम जप।

महाजातक हाथ-पैर हिला रहा था। देव की सलाह सुनकर भी वह निराश नहीं हुआ। उसने देव से पूछा—आप कौन हैं? देव ने कहा—मैं समुद्र का देव हूँ।

महाजातक—आप देव होकर भी क्या हम मनुष्यों से गये-बीते हैं? आपका काम तो उद्योग करने के लिए उपदेश देने का है, लेकिन आप तो उद्योग छोड़कर डूब मरने का उपदेश देते हैं! आप अपना काम करिये और किसी का भला हो सकता हो तो वह कीजिये।

मुझे भुलावे में मत डालिये । मैं अपने उद्योग में लगा हूँ । रही भगवान के नाम जपने की बात । सो मौत से बचने और मृत्यु से दुःख न पहुँचने देने हेतु परमात्मा का स्मरण अवश्य करूँगा ।

महाजातक ने देव से दूसरों का भला करने के लिए तो कहा, मगर अपने लिए सहायता न माँगी ।

महाजातक का उत्तर प्रभावित करने वाला था । उसने सोचा— यह मनुष्य ऐसे विकट समय में भी उद्योगशील और मृत्यु की ओर से निर्भय है ! इसके विचार कितने उच्च हैं !

देव ने फिर कहा—भाई, उद्योग करना तो अच्छा है, मगर उसके फल का भी तो विचार कर लेना चाहिए । फल की प्राप्ति की सम्भावना न हो तो उद्योग करना वृथा है ।

महाजातक—मैं फल देखकर ही उद्योग कर रहा हूँ । उद्योग का पहला फल तो यही है कि मुझे जो शक्ति मिली है, उसका उपयोग कर रहा हूँ । दूसरा फल आपका मिलना है । अगर मैं जहाज के साथ ही डूब मरता तो आपके दर्शन कैसे होते ? मैंने साहस किया, उद्योग किया तो आप मिले । ऐसी दशा में मेरा श्रम क्या वृथा है ?

महाजातक का उत्तर सुनकर देव बहुत प्रसन्न हुआ । उसने कहा—तुमने मुझसे बचा लेने की प्रार्थना क्यों नहीं की ?

महाजातक—मैं जानता हूँ कि देवता कभी प्रार्थना करवाने की गरज नहीं रखते । उद्योग में लगे रहने से मेरा मन प्रसन्न है और यही देवता की प्रार्थना है । जिसका मन प्रसन्न और निर्विकार होगा, उस पर देवता स्वयं प्रसन्न होंगे । इसके अतिरिक्त मेरे प्रार्थना करने पर अगर आप मुझे बचाएँगे तो आपके कर्तव्य का गौरव कम हो जायगा । बिना प्रार्थना के आप मेरा उपकार करेंगे तो उस उपकार का मूल्य बढ़ जायगा । मैं आपके कर्तव्य की महत्ता को कम नहीं करना चाहता और न यही चाहता हूँ कि आपके उपकार का मूल्य कम हो जाय ।

२८ : सच्चा मित्र

एक राजा का प्रधान था । राजा उसका खूब आदर-सत्कार करता था । प्रधान विवेकवान था । उसने विचार किया—

राजा जोगी अगिन जल, इनकी उलटी रीति ।
बचते रहियो परसराम, थोड़ी पाले प्रीति ।-

अतएव सिर्फ राजा के प्रेम पर निर्भर रहकर किसी दूसरे को भी अपना मित्र बनाये रखना उचित है । मित्र होगा तो समय पर काम आयगा ।

इस प्रकार विचारकर प्रधान ने एक नित्य-मित्र बनाया । प्रधान अपने इस मित्र के संग खाता, पीता और रहता था । वह समझता था कि नित्य-मित्र भी मेरा आत्मा है । इस प्रकार प्रधान अपने मित्र को बड़े प्रेम से रखने लगा ।

एक मित्र पर्याप्त नहीं है, यह विचारकर प्रधान ने दूसरा मित्र भी बनाया । यह मित्र पर्व-मित्र था । किसी पर्व या त्यौहार के दिन प्रधान उसे बुलाता, खिलाता-पिलाता और गपशप करता था । प्रधान ने एक तीसरा मित्र और बनाया जो सैन-जुहारी-मित्र था । जब कभी अचानक मिल गया तो जुहार उससे कर लिया करता था । इस प्रकार प्रधान ने तीन मित्र बनाये ।

समय ने पलटा खाया । राजा प्रधान पर कुपित हो गया । कुछ चुगलखोरों ने राजा के कान भर दिये कि प्रधान ने अपना घर भर लिया है, राज्य को अमुक हानि पहुँचाई है, वह गया है, वह किया है, आदि-आदि । राजा कान के कच्चे होते हैं । उसने

एक दिन पुलिस को हुक्म दे दिया कि प्रधान के घर पहरा लगा दो और आवश्यक होवे तो उसे दरबार में हाजिर करो।

आरम्भ में राज्य-व्यवस्था प्रजा की रक्षा के उद्देश्य से की गई थी। लोगों ने अपनी रक्षा के लोभ से राजा की शरण ली थी। मगर धीरे-धीरे राजा लोग स्वार्थी बन गये। पहले राजा और प्रजा के स्वार्थों में विरोध नहीं था। राजाओं का हित प्रजा का और प्रजा का हित राजा का हित था। मगर राजाओं की विलासिता और स्वार्थभावना ने प्रवेश किया। तब प्रजा के हित का घात करके भी राजा अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगे। तभी से राजा और प्रजा के बीच संघर्ष का सूत्रपात हुआ। आज वह संघर्ष अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है और राजा के हाथों से शासन-सूत्र छूट रहा है। राजतंत्र मरणासन्न हो रहा है और प्रजातंत्र का उदय हो रहा है।

चुगलखोरों ने झूठे-झूठे गवाह पेश करके सिद्ध कर दिया कि प्रधान दुष्ट है। राजा ने प्रधान को गिरफ्तार करने की आज्ञा दे दी। इधर राजा ने आज्ञा दी और उधर प्रधान के किसी हितैषी ने प्रधान को राजाज्ञा सम्बन्धी सूचना देकर कहा—गिरफ्तारी में देर नहीं है। इज्जत बचाना हो तो निकल भागो।

प्रधान अपनी आबरू बचाने के उद्देश्य से घर से बाहर तो निकल पड़ा, मगर सोच-विचार में पड़ गया कि अब कहाँ जाऊँ? और किसकी शरण लूँ? अंत में उसने सोचा—मेरे तीन मित्र हैं। इन में से कोई तो शरण देगा ही। मगर मेरा पहला अधिकार नित्य-मित्र पर है। पहले उसके पास ही जाना योग्य है।

प्रधान आधी रात और अंधेरी रात में नित्य-मित्र के घर पहुँचा। किवाड़ खटखटाए। मित्र ने पूछा—कौन है?

प्रधान ने दबी आवाज में कहा—धीरे बोलो, धीरे! मैं तुम्हारा मित्र हूँ!

मित्र—मैं कौन ?

प्रधान—तुम तो मुझे स्वर से ही पहचान लेते थे। क्या इतनी जल्दी भूल गये ? मैं तुम्हारा मित्र हूँ।

मित्र—नाम बताओ ?

प्रधान—अरे ! नाम भी भूल गये ! मैं प्रधान हूँ।

मित्र ने किवाड़ खोलकर आधी रात के समय आने का कारण पूछा। प्रधान ने राजा के कोप की कथा कहकर कहा—यद्यपि मैं निरपराध हूँ, मगर इस समय मेरी कौन सुनेगा ? इसी लिए मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। आगे जो होगा, देखा जायगा।

मित्र—राजा के अपराधी को मेरे घर में शरण ! मैं बाल-बच्चे वाला आदमी हूँ। आपको मेरे हानि-लाभ का भी विचार करना चाहिए ! राजा को पता चल गया तो मिट्टीपलीद होगी ! अगर आप मेरे मित्र हैं तो मेरे घर से आपको अभी-अभी चला जाना चाहिए।

प्रधान—मित्र, क्या मित्रता ऐसे ही वक्त के लिये नहीं होती ? इतने दिन साथ रहे, साथ खाया-पिया और मौज की ! आज संकट के समय धोखा दोगे ? क्या आज इसी उत्तर के लिए मित्रता बांधी थी ?

मित्र—आप मेरे मित्र हैं, इसी कारण तो राज को खबर नहीं दे रहा हूँ। अन्यथा फौरन गिरफ्तार न करवा देता ? लेकिन अगर आप जल्दी रवाना नहीं होते तो फिर लाचार होकर यही करना पड़ेगा।

प्रधान—निर्लज्ज ! मैंने तुझे अपनी आत्मा की तरह स्नेह किया और तू इतना स्वार्थी निकला ! विपदा का समय चला जायगा, मगर तेरी करतूत सदा याद रहेगी।

बाहर रात्रि का घोर अन्धकार था और प्रधान के हृदय

में उससे भी घनतर निराशा का अन्धकार छाया था। उसे अपने पर्व-मित्र की याद आई। मगर दूसरे ही क्षण खयाल आया—जब नित्य-मित्र ने यह उत्तर दिया है तो पर्व-मित्र से क्या आशा की जा सकती है? मगर चलकर देखना तो चाहिए। इस प्रकार विचार कर वह पर्व-मित्र के घर पहुँचा। सारी घटना सुनने के बाद मित्र ने हाथ जोड़कर कहा—मेरी इतनी शक्ति नहीं कि राजा के विरोधी को शरण दे सकूँ! आप भूखे हों तो भोजन कर लीजिए। वस्त्र या धन की आवश्यकता हो तो मैं दे सकता हूँ। मगर आपको स्थान देने में असमर्थ हूँ।

प्रधान—मैं नंगा या भूखा नहीं हूँ। मेरे घर धन की कमी नहीं है। मैं तो इस संकट के समय शरण चाहता हूँ। जो संकट के समय सहायता न करे वह मित्र कैसा?

जे न मित्र-दुख होहिं दुखारी।
तिनहिं विलोकत पातक भारी॥

जो अपने मित्र के दुःख से दुखित नहीं होते, उन्हें देखने में भी पाप लगता है।

मित्र—मैं यह नीति जानता हूँ, मगर राजविरोधी को अपने यहाँ आश्रय देने की शक्ति मुझमें नहीं है।

प्रधान ने सोचा—हठ करना वृथा है। नित्य-मित्र जहाँ गिरफ्तार कराने को तैयार था वहाँ यह नम्रतापूर्वक तो उत्तर दे रहा है! वह विपत्ति मित्रों की कसौटी है।

निराश होकर प्रधान सेनजुहारी-मित्र की ओर रवाना हुआ। उसने सोचा—इस मित्र पर अपना कोई अधिकार तो है नहीं, मगर कसौटी करने में क्या हर्ज है? यह सोचकर वह अपने तीसरे मित्र के घर पहुँचा। राजा के कोप की कहानी सुनाकर आश्रय देने की प्रार्थना की। मित्र ने दृढ़ता के साथ कहा—खैर, यह तो राजा का ही कोप है, अगर इन्द्र का कोप होता और मैं सहायता

मित्र—मैं कौन ?

प्रधान—तुम तो मुझे स्वर से ही पहचान लेते थे। क्या इतनी जल्दी भूल गये ? मैं तुम्हारा मित्र हूं।

मित्र—नाम बताओ ?

प्रधान—अरे ! नाम भी भूल गये ! मैं प्रधान हूं।

मित्र ने किवाड़ खोलकर आधी रात के समय आने का कारण पूछा। प्रधान ने राजा के कोप की कथा कहकर कहा—यद्यपि मैं निरपराध हूं, मगर इस समय मेरी कौन सुनेगा ? इसीलिए मैं तुम्हारी शरण में आया हूं। आगे जो होगा, देखा जायगा।

मित्र—राजा के अपराधी को मेरे घर में शरण ! मैं बाल-बच्चे वाला आदमी हूं। आपको मेरे हानि-लाभ का भी विचार करना चाहिए ! राजा को पता चल गया तो मिट्टीपलीद होगी ! अगर आप मेरे मित्र हैं तो मेरे घर से आपको अभी-अभी चला जाना चाहिए।

प्रधान—मित्र, क्या मित्रता ऐसे ही वक्त के लिये नहीं होती ? इतने दिन साथ रहे, साथ खाया-पिया और मौज की ! आज संकट के समय धोखा दोगे ? क्या आज इसी उत्तर के लिए मित्रता बांधी थी ?

मित्र—आप मेरे मित्र हैं, इसी कारण तो राज को खबर नहीं दे रहा हूं। अन्यथा फौरन गिरफ्तार न करवा देता ? लेकिन अगर आप जल्दी रवाना नहीं होते तो फिर लाचार होकर यही करना पड़ेगा।

प्रधान—निर्लज्ज ! मैंने तुझे अपनी आत्मा की तरह स्नेह किया और तू इतना स्वार्थी निकला ! विपदा का समय चला जायगा, मगर तेरी करतूत सदा याद रहेगी।

बाहर रात्रि का घोर अन्धकार था और प्रधान के हृदय

में उससे भी घनतर निराशा का अन्धकार छाया था । उसे अपने पर्व-मित्र की याद आई । मगर दूसरे ही क्षण खयाल आया—जब नित्य-मित्र ने यह उत्तर दिया है तो पर्व-मित्र से क्या आशा की जा सकती है ? मगर चलकर देखना तो चाहिए । इस प्रकार विचार कर वह पर्व-मित्र के घर पहुँचा । सारी घटना सुनने के बाद मित्र ने हाथ जोड़कर कहा—मेरी इतनी शक्ति नहीं कि राजा के विरोधी को शरण दे सकूँ ! आप भूखे हों तो भोजन कर लीजिए । वस्त्र या धन की आवश्यकता हो तो मैं दे सकता हूँ । मगर आपको स्थान देने में असमर्थ हूँ ।

प्रधान—मैं नंगा या भूखा नहीं हूँ । मेरे घर धन की कमी नहीं है । मैं तो इस संकट के समय शरण चाहता हूँ । जो संकट के समय सहायता न करे वह मित्र कैसा ?

जे न मित्र-दुख होहिं दुखारी ।
तिनहिं विलोकत पातक भारी ॥

जो अपने मित्र के दुःख से दुखित नहीं होते, उन्हें देखने में भी पाप लगता है ।

मित्र—मैं यह नीति जानता हूँ, मगर राजविरोधी को अपने यहाँ आश्रय देने की शक्ति मुझमें नहीं है ।

प्रधान ने सोचा—हठ करना वृथा है । नित्य-मित्र जहाँ गिरफ्तार कराने को तैयार था वहाँ यह नम्रतापूर्वक तो उत्तर दे रहा है ! यह विपत्ति मित्रों की कसौटी है ।

निराश होकर प्रधान सेनजुहारी-मित्र की ओर रवाना हुआ। उसने सोचा—इस मित्र पर अपना कोई अधिकार तो है नहीं, मगर कसौटी करने में क्या हर्ज है ? यह सोचकर वह अपने तीसरे मित्र के घर पहुँचा । राजा के कोप की कहानी सुनाकर आश्रय देने की प्रार्थना की । मित्र ने दृढ़ता के साथ कहा—खैर, यह तो राजा का ही कोप है, अगर इन्द्र का कोप होता और मैं सहायता

न देता तो आपका मित्र ही कैसा ? आप ऊपर चलिये और निश्चिन्त होकर रहिये। यह घर आपका ही है।

प्रधान की प्रसन्नता का पार न रहा। मन-ही-मन कहा—इसे कहते हैं मित्रता ! समय पर ही मित्रता की पहिचान होती है।

प्रधान अपने मित्र के साथ भीतर गया। मित्र ने उसका सत्कार करके कहा—अगर आपकी कोई आवश्यकता हो तो बिना संकोच कह दीजिए। प्रधान के मना करने पर उसने कहा—मनुष्य-मात्र भूल का पात्र है। अगर कोई भूल हो गई हो तो मुझसे छिपाइये नहीं, सच-सच कह दीजिए, रोग का ठीक तरह से पता लगने पर ही सही इलाज हो सकता है।

प्रधान सोचने लगा—अपनी बात ऐसे मित्र से नहीं कहूँगा तो किससे कहूँगा ? और प्रधान ने उसके सामने अपना दिल खोलकर रख दिया। मित्र ने उसे आश्वासन दिया।

प्रातःकाल प्रधान के घर की तलाशी ली गई। तभी पता चला कि प्रधान अपराधी न होता तो भागता ही क्यों ? भागना ही उसके अपराधी होने का सबसे बड़ा सबूत है। राजा के दिल में बात ठस गई। उसने कहा—ठीक है। पर भागकर जायगा कहाँ ? जहाँ भी होगा, पकड़वा कर मँगवा लिया जायगा।

प्रधान का आश्रयदाता मित्र प्रातःकाल ही राजा के दरबार में जा पहुँचा था। वह चुपचाप सारी बातें सुनता रहा। सारे शहर में हलचल मची थी।

सब बातें सुन चुकने के बाद मौका देखकर प्रधान के मित्र ने मुजरा किया। राजा ने कहा—सेठ तुम कभी आते नहीं। आज आने का क्या कारण है ?

सेठ—पृथ्वीनाथ, कुछ अर्ज करना चाहता हूँ।

राजा—कहो।

सेठ—एकान्त में निवेदन करूँगा।

राजा और सेठ एकान्त में चले गये। वहाँ राजा के पूछने पर सेठ ने कहा—महाराज प्रधानजी ने क्या अपराध किया है ? क्या मैं जान सकता हूँ ?

राजा ने कई-एक अपराध गिना दिये, जिनके विषय में कोई प्रमाण नहीं था।

सेठ—आपके कथन को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? मगर प्रधान के विना तो काम चलेगा नहीं। आपने इस विषय में क्या सोचा है ?

राजा—दूसरा प्रधान बुलाएँगे।

सेठ—कदाचित् वह भी ऐसा ही निकला तो क्या होगा ?

राजा—उसकी परीक्षा कर लेंगे।

सेठ—नये प्रधान की जिस प्रकार जाँच करेंगे, उसी प्रकार अगर पुराने प्रधान की ही जाँच की जाय तो क्या ठीक न होगा ? वह नया आएगा तो पहले अपना घर बनायगा। उपद्रव मचा देगा। शायद आपको फिर पश्चाताप करना पड़ेगा। पुराने प्रधान से अभियोगों के विषय में आप स्वयं पूछते और सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर यहीं कैद कर लेते तो क्या हानि थी ? मगर आपने उस खानदानी प्रधान के पीछे पुलिस लगा दी। यह कहाँ तक उचित है, आप सोचें।

सेठ की बात राजा को ठीक मालूम हुई। उसने कहा—सेठ तुम राज्य के हितचिन्तक हो। इसी कारण तुम्हें राजा और प्रजा के बीच का पुरुष नियत किया है और सेठ की उपाधि दी गई है। मगर प्रधान न मालूम कहाँ चला गया है ! वह होता तो मैं उसको सब बात पूछता।

सेठ—प्रधानजी मेरे आत्मीय मित्र हैं। मुझे उनकी सब बातों का पता है। उनके अभियोगों के विषय में मुझसे पूछें तो सम्भव है, मैं समाधान कर सकूँ।

राजा—प्रधान तुम्हारे मित्र हैं ?

सेठ—मैंने न तो कभी छदाम दी है, न ली है। आपके प्रधान होने के नाते और मनुष्यता के नाते उनसे मेरी मित्रता है। मित्रता भी ऐसी है कि उन्होंने मुझसे कोई बात नहीं छिपाई।

राजा—अच्छा देखो, प्रधान ने इतना हजम कर लिया है।

सेठ—ऐसा कहने वालों ने गलती की है। फलां वही मंगवा-कर देखिए तो समाधान हो जायगा।

वही मँगवाकर देखी गई। राजा ने पाया कि वास्तव में अभियोग निराधार है। इसी प्रकार और दो-चार बातों की जाँच की गई। सब ठीक पाया गया। सेठजी बीच-बीच में कह देते थे—हाँ इतनी भूल प्रधानजी से अवश्य हुई है और वे इसके लिए मेरे सामने पश्चाताप भी करते थे। आपसे भी कहना चाहते थे, मगर शायद लिहाज के कारण नहीं कह सके।

राजा—प्रधान ने पश्चाताप भी किया था? मगर इतने बड़े काम में भूल हो जाना संभव है। वास्तव में मैंने प्रधान के साथ अनुचित व्यवहार किया है, किन्तु अब तो उसका मिलना कठिन है? कौन जाने कहाँ चला गया होगा?

सेठ—अगर आप उनके सम्मान का वचन दें तो मैं ला सकता हूँ।

राजा—क्या प्रधान तुम्हारी जानकारी में है?

सेठ—जी हाँ। मगर बिना अपराध सिर कटाने के लिए मैं उन्हें नहीं ला सकता। आप न्याय करने का वचन दें तो हाजिर कर सकता हूँ।

राजा—मैं वचन देता हूँ कि प्रधान के गौरव की रक्षा की जायगी। यही नहीं, वरन् चुगलखोरों का मुँह काला किया जायगा।

सेठ—महाराज अपराध क्षमा करें। प्रधानजी मेरे घर पर हैं।

राजा—सारे नगर में उनकी बदनामी हो गई है। उसका परिमार्जन करने के लिए उनका सत्कार करना चाहिए। मैं स्वयं उन्हें लिवाने चलूँगा और आदर के साथ हाथी पर बिठाकर ले आऊँगा।

जिसने अपमान किया है वही मान करे तो अपमान मिट जाता है।

हाथी सजाकर राजा सेठ के घर की तरफ रवाना हुआ। सेठ ने जाकर प्रधान से कहा—प्रधानजी आपको दरबार में पधारना होगा!

प्रधान—क्या गिरफ्तार कराओगे ?

सेठ—क्या मैं पापी हूँ ? महाराज द्वार पर आ पहुँचे हैं और आदर के साथ आपको ले जाएँगे।

सेठ के साथ बाहर आकर प्रधान ने राजा को मुजरा किया। राजा ने हाथी पर बैठने का हुक्म दिया। प्रधान शर्मिन्दा हुआ। तब राजा ने कहा—जो होना था, हो चुका। शर्माने की कोई बात नहीं है। मूर्खों की बातों में आकर मैंने तुम्हारा अपमान किया है। मगर अब किसी प्रकार की शंका मत रखो।

दरबार में पहुँचकर प्रधान ने निवेदन किया—मेरे विरुद्ध जो भी आरोप हैं उनकी कृपा कर जाँच कर लीजिये। इससे मेरी निर्दोषिता सिद्ध होगी और चुगलखोरों का मुँह आप ही काला हो जायगा।

जम्बूकुमार अपनी पत्नियों से कह रहे हैं—कहो मित्र कैसा होना चाहिए ? उनकी पत्नियों ने कहा—पहला मित्र तो मुँह देखने योग्य भी नहीं है। दूसरे ने हृदय को नहीं पहचाना और अनावश्यक वस्तुएँ पेश कीं। तीसरे मित्र ने हृदय को पहचाना और उसी के अनुसार उपाय किया। इसलिए मित्र हो तो तीसरे मित्र के समान ही होना चाहिए।

जम्बूकुमार कहने लगे—प्रधान के समान मेरे भी तीन मित्र हैं। नित्य-मित्र यह शरीर है। इसे प्रतिदिन नहलाता-धुलाता हूँ, खिलाता-पिलाता हूँ और सजाता हूँ। परन्तु कष्ट का प्रसंग आने पर, जरा या रोग के आने पर सब से पहले शरीर ही धोखा देता है। इतना सत्कार-सम्मान करने पर भी यह शरीर आत्मा के बन्धन नहीं तोड़ सका। अतएव आत्मा से शरीर को भिन्न और अन्त में साथ न देने वाला समझकर उस पर ममता रखना उचित नहीं है।

माता, पिता, पत्नी आदि कुटुम्बी जन पर्व-मित्र के समान हैं। पत्नी पति पर प्रीति रखती है किन्तु जब कर्म रूपी राजा का प्रकोप होता है, तब वह अपने पति को छुड़ा नहीं सकती।

जा दिन चेतन से कर्म शत्रुता करे।
ता दिन कुटुम्ब से कोउ गर्ज न सरे॥

जिस दिन कर्म चेतन के साथ शत्रुता का व्यवहार करता है उस दिन कुटुम्बी-जन क्या कर सकते हैं? वह व्याकुल भले ही हो जाएँ और सहानुभूति भले प्रकट करें, किन्तु कष्ट से छुड़ाने में समर्थ नहीं होते।

जम्बूकुमार अपनी पत्नी से कहते हैं--मेरे तीसरे मित्र सुधर्मा स्वामी हैं। उन्होंने आत्मा और कर्म की भिन्न-भिन्न व्याख्या करके उसी प्रकार समझाया है, जैसे सेठ ने राजा को समझाया था। इस तीसरे मित्र की बदौलत ही आत्मा दुःख से मुक्त होता है और अपने परमपद पर प्रतिष्ठित होता है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

हे आत्मा! अगर तू चाहे तो दुःख क्षण भर भी नहीं ठहर सकता। मगर तू धन की कुञ्जी भी अपने हाथ में रखना चाहता है और स्वर्ग की कुञ्जी भी अपने हाथ में रखना चाहता है। यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

वस्तुतः सच्चा मित्र वही है जो उपकार करता है, संकट से बचाता है और जो सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करता है। मित्र का यह स्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से ही समझने योग्य नहीं है किन्तु व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि से भी समझने योग्य है। आचारांगसूत्र में कहा है--

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि।

अर्थात्--हे पुरुष! तू अपना मित्र आप ही है। दूसरे मित्र की अभिलाषा क्यों करता है?

२९ : यज्ञ

किसी जमाने में नरमेध भी किया जाता था और पशुमेध तो साधारण बात हो गई थी। नरमेध में मनुष्य की और पशुमेध में पशुओं की बलि दी जाती थी। नरमेध की बात जाने दीजिए। वह तो घृणित है ही पर पशुमेध भी कम घृणित नहीं है। निर्दयता के साथ पशुओं को आग में झोंक देना शांति प्राप्त करने का कैसा ढोंग है, यह बात एक आख्यान द्वारा समझना ठीक होगा।

एक राजा पशु का यज्ञ करने लगा। राजा का मंत्री न्यायशील, दयालु और पक्षपातरहित था। उसने विचार किया—शान्ति के नाम पर वध करना कौन-सी शांति है ? क्या दूसरों को घोर अशांति पहुँचाना ही शान्ति प्राप्त करना है ? अपनी शान्ति की आशा से दूसरों के प्राण लेना जघन्यतम स्वार्थ है। क्या इसी निकृष्ट स्वार्थ में शान्ति विराजमान रहती है ? शान्ति देवी की सौम्य मूर्ति इस विकराल और अधम कृत्य में नहीं रह सकती। उसने यज्ञ कराने वाले पुरोहित से पूछा—आप इन मूक पशुओं को शान्ति पहुँचाकर शान्ति किस प्रकार चाहते हैं ?

पुरोहित ने कहा—इन बकरों का परमात्मा के नाम पर बलिदान किया जायगा। इस बलिदान के प्रताप से सबको शान्ति मिलेगी।

मन्त्री—ईश्वर अगर सबका स्वामी है तो इन बकरों का भी स्वामी है या नहीं ? और जैसे सब लोग शान्ति चाहते हैं उसी प्रकार ये शान्ति चाहते हैं या नहीं ? अगर यह भी शान्ति चाहते हैं तो इन्हें क्यों मारा जा रहा है ?

पुरोहित मन्त्री के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। अतएव उसने क्रोध में आकर कर्कश स्वर में कहा—आप नास्तिक मालूम होते हैं। यहाँ से दूर चले जाइए, अन्यथा यज्ञ अपवित्र हो जायगा।

मन्त्री—मैं नास्तिक नहीं, आस्तिक हूँ। परन्तु यह जानना चाहता हूँ कि जिन जीवों के लिए तुम शान्ति चाह रहे हो, उनमें यह वकरे भी हैं या नहीं ?

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।

अर्थात्—सभी जीव जीवित रहना पसन्द करते हैं। मरना कोई नहीं चाहता।

जव सभी जीव जीना चाहते हैं और मरना नहीं चाहते तो इन्हें अशांति पहुँचाकर, मारकर, शान्ति चाहना कहाँ का न्याय है ? तुम भी शांति चाहते हो, यह वकरे भी शान्ति चाहते हैं, फिर इन्हें क्यों मारते हो ?

पुरोहित के पास इस सरल प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। वह ऊटपटांग वात करके मन्त्री को टालने का उपाय करने लगा।

मन्त्री ने विचार किया कि यह यज्ञ राजा की आज्ञा से हो रहा है। पुरोहित लोग यों कहने से नहीं मानेंगे। अतएव उसने प्रधान पुरोहित से कहा—मैं लौटकर आता हूँ, तव तक इन पशुओं को मारने का काम बन्द रखा जाय। यह मेरी अधिकृत आज्ञा है ?

मन्त्री सीधा राजा के पास पहुँचा। उसने राजा से कहा—महाराज ! नगर में वड़ा अत्याचार हो रहा है।

राजा—तो आप किस काम के लिए हैं ? अत्याचार को रोकते क्यों नहीं ?

मन्त्री—अत्याचार करने वाले तो स्वयं राजगुरु हैं। उनके सम्बन्ध में जब तक आप विशेष आज्ञा न दें, मैं क्या कर सकता हूँ ?

राजा—राजगुरु क्या अत्याचार कर रहे हैं ?

मन्त्री—लोगों के वच्चों को ज़वर्दस्ती मूँड़कर साधु वना रहे

हैं। सब बच्चे और उनके माँ-बाप रो रहे हैं। आप जैसी आज्ञा दें, वैसा ही किया जाय।

राजा को राजगुरु की जबर्दस्ती अच्छी नहीं लगी। उसने मन्त्री से कहा—इस अत्याचार को जल्दी रोको। न मानें तो कानून के अनुसार उचित कार्रवाई करो।

राजा की आज्ञा प्राप्तकर मन्त्री फिर यज्ञस्थल पर आया। उसने यज्ञ करने वाले पुरोहितों से कहा—इन पशुओं को छोड़ दो। इनका हवन नहीं किया जायगा।

प्र० पुरोहित—क्यों ?

मन्त्री—इनकी आत्मा नहीं चाहती।

प्र० पुरोहित—आप शास्त्र की बात नहीं समझते। हम लोग इन पशुओं की कुछ भी हानि नहीं कर रहे हैं। हम तो इन्हें सीधे स्वर्ग भेज रहे हैं। स्वर्ग में पहुँचकर इन्हें दिव्य सुख प्राप्त होगा। न आप यह जानते हैं और न बकरे ही जानते हैं। हम ज्ञानी हैं। हमने शास्त्र पढ़े हैं। अतएव इन बकरों की भलाई में बाधा मत डालिए।

मन्त्री—आपका ज्ञान तो आपके कामों से और आपकी बातों से प्रकट ही है। परन्तु जब यह पशु स्वर्ग चाहते हों, तब तो इन्हें स्वर्ग भेजना उचित भी कह सकते थे। मगर यह स्वर्ग नहीं चाहते। जबर्दस्ती करके क्यों भेज रहे हो ?

आखिर बकरे बचा लिए गये। पुरोहित घबराया। उसकी दुकानदारी जो उठ रही थी! फिर उन्हें पूछता ही कौन! वे भी राजा के पास पहुँचे। कहने लगे—अन्नदाता! शांति के लिए यज्ञ प्रारम्भ किया गया था। परन्तु यज्ञ में बलि दिये जाने वाले बकरों को मन्त्री ने छुड़ा लिया और यज्ञ रोक दिया।

राजा असमंजस में पड़ गया। सोचने लगा—मामला क्या है! आखिर उसने मंत्री को बुलवाया। बकरे छुड़वाने के विषय में प्रश्न करने पर मंत्री ने उत्तर दिया—महाराज! मैंने आपकी आज्ञा से

पशुओं को मरने से बचाया है।

राजा—मैंने यह आज्ञा कब दी है?

मंत्री—आपने आज्ञा दी थी कि जबर्दस्ती साधु न बनाया जाय

राजा—वह तो साधु बनाने के विषय में थी। बकरों के विषय में तो कोई आज्ञा नहीं दी गई।

मंत्री—जैसे दूसरे लोग कहते हैं कि हम साधु बनाकर स्वर्ग भेजते हैं, उसी प्रकार इनका कहना है कि हम बकरों को मारकर स्वर्ग भेजते हैं। जब जबर्दस्ती साधु नहीं बनाने दिया जाता तो फिर जबर्दस्ती बकरों को कैसे स्वर्ग भेजा जा सकता है।

राजा विवेकवान था। उसने मंत्री की बात पर विचार किया। विचार करने पर उसे जँचा कि मंत्री की बात सही है।

राजा ने फिर पुरोहित को बुलवाया। पुरोहितों के आने राजा ने पूछा—उन पशुओं को मारने का उद्देश्य क्या है? उ अमर क्यों न रखा जाय? उन्हें अमर रखने से क्या ईश्वर प्रस नहीं होगा?

प्रधान पुरोहित ने कहा—महाराज, आप भी भ्रम में पड़ ग हैं। हम पशुओं को मारते नहीं, स्वर्ग भेजते हैं।

मंत्री ने कहा—महाराज, मैं पशुओं की ओर से कुछ निवेद करना चाहता हूँ। उन पशुओं ने बड़ी ही दीनता के साथ प्रार्थ की है। वह प्रार्थना यह है—

कहे पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहिं,
होमत हुतासन में कौन-सी बड़ाई है।
स्वर्गसुख मैं न चहूँ देहु मुझे यों न कहूँ,
घास खाय रहूँ मेरे दिल यही भाई है।
जो तू यह जानत है वेद यों बखानत है,
जज्ञ-जरौ जीव पाये स्वर्ग-सुखदाई है।
डारो क्यों न वीर! यामें अपने कुटुम्ब ही को,

मोहिं जिन जारै जगदीस की दुहाई है ॥

पशुओं की यह प्रार्थना है। वे दीन-से-दीन स्वर में यज्ञ करने वाले से कहते हैं—क्या तुम ईश्वर के भक्त हो ? जिस वेद के नाम पर तुम हमें होमते हो, उसमें कहे हुए अहिंसा धर्म को छिपाकर हमें होमने में तुम्हारी कौन-सी बड़ाई है ? मैं स्वर्ग का सुख नहीं चाहता। मैं तो घास खाकर जीवित रहना चाहता हूँ। हे याज्ञिक ! अगर तू सच्चे दिल से समझता है कि यज्ञ में होमा हुआ जीवधारी स्वर्ग में जाता है तो अपने कुटुम्ब को ही स्वर्ग भेजने के लिए क्यों नहीं होम देता ? हम मूक पशुओं से क्यों रूठा है !

एक आदमी अपने हाथ में हरी-हरी घास लेकर खड़ा हो और दूसरा स्वर्ग में भेजने के लिए तलवार लिए खड़ा हो तो इन दोनों में से पशु किसे पसन्द करेगा ? वह किसकी ओर मुँह लटकाएगा ?

घास वाले की ओर !

इससे प्रकट है कि पशु स्वर्ग जाने के लिए मरना नहीं चाहता और घास खाकर जीवित रहना चाहता है। मंत्री कहता है—अगर यज्ञ करने वाले कहते हैं कि पशुओं को अज्ञान है और हम ज्ञानी हैं, इसीलिए उन्हें स्वर्ग भेजते हैं, तो इसके उत्तर में पशुओं का कहना है कि हमें तो इस बात पर विश्वास है नहीं, अगर इन्हें विश्वास है तो ये लोग अपने कुटुम्ब को स्वर्ग भेजें। अगर इन्होंने अपने बेटे को इस प्रकार मारकर स्वर्ग भेजा होता तो हमें विश्वास हो जाता कि ये दिल से ऐसा मानते हैं। मगर जब यज्ञ करने वाले अपने माता, पिता और पुत्र आदि को स्वर्गसुख से वंचित रखकर हमें स्वर्ग भेजने की बात कहते हैं तो हमें इनकी बात पर विश्वास नहीं होता। इसीलिए हमें मारने वाले को परमात्मा की दुहाई है।

मंत्री कहता है—उन पशुओं की तरफ से यह फरियाद है और वे इसका उत्तर मांगते हैं ?

राजा ने यज्ञ करने वाले पुरोहितों से पूछा—क्या आप लोग

अपने परिवार को यज्ञ में होम सकते हैं ?

पुरोहित—शास्त्र में पशुओं को होमने का विधान है, कुटुम्ब को होमने का कहीं विधान नहीं है।

राजा—तब तो कहना पड़ेगा कि आपका शास्त्र भी पक्षपात से भरा है। बस, अब रहने दीजिये। क्षमा कीजिये, मैं ऐसी शान्ति नहीं चाहता। मेरा उद्देश्य किसी को अशांति पहुँचाकर शान्ति प्राप्त करना नहीं है। मेरा कर्तव्य मुझे सब को शान्ति पहुँचाने के लिए प्रेरित करता है।

मतलब यह है कि किसी भी जीव का हनन करने से शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी प्राणी को दुःख न पहुँचाने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है।

३० : श्रद्धा

एक विद्याधर ने किसी मनुष्य को आकाशगामिनी विद्या सिखाई। उसने विद्या की परीक्षा तो कर ली, मगर ऐसा अवसर उसे हाथ न लगा कि वह उससे विशेष काम लेता। अन्त में मरते समय उसने अपने लड़के को वह विद्या सिखलाई और कहा—वेटा, यह विद्या मैं सिद्ध कर चुका हूँ। इसमें सन्देह न करना। पिता का देहान्त हो गया।

जब कुछ समय वीत गया तो लड़के ने सिद्ध की हुई विद्या की परीक्षा करने का विचार किया। वह पिता के कथनानुसार सव सामग्री लेकर जंगल में गया। वहाँ वड़ के पेड़ के नीचे एक भट्टी खोदी। उस पर तेल की कढ़ाई जमाई और चौरासी तारों का एक छींका वनाकर सूत के धागे में वाँधकर पेड़ की डालियों पर लटका दिया।

भट्टी में आग जलाकर, जव तेल खौलने लगे तव मंत्र को पढ़ते-पढ़ते छींके में वैठना था और एक-एक वार मंत्र वोलकर एक-एक तार काटते जाना था। यद्यपि यह विद्या उसके पिता की आजमाई हुई थी और किसी के प्रकार संशय का कोई कारण न था, फिर भी लड़का वहुत डरा। वह सोचने लगा—मैं छींके पर चढ़ूँ और छींका टूटकर गिर जाय तो मैं सीधा कढ़ाई में आ गिरूँगा—जल मरूँगा।

इधर लड़का इस पशोपेश में पड़ा था, उधर नगर में, राजमहल में चोरी हुई। वहुत-सा जवाहरात आदि चोरी चला गया। सिपाही चोर के पीछे पड़े। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आखिर चोर दिखाई दिया। अव चोर आगे-आगे भागता जाता था और सिपाही उसका पीछा कर रहे थे। चोर जंगल में पहुँचा। उसे वह लड़का दिखाई दिया। सि

जंगल को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये।

चोर ने लड़के से पूछा—भाई क्या कर रहे हो? लड़के ने उत्तर दिया—मुझे धन चाहिए। धन प्राप्त करने के लिए अपने पिताजी द्वारा सिद्ध की हुई विद्या से आकाश में उड़कर धन लेने जाऊँगा। पर भय लगता है—कहीं कढ़ाई में न गिर पड़ूं?

चोर ने कहा—तुम्हें धन चाहिए तो लो; मेरे पास बहुत-सा धन है। मुझे अपना मन्त्र सिखा दो।

लड़का धन लेकर फूला न समाया। उसने चोर को मन्त्र सिखा दिया। चोर बेखटके छींके पर जा बैठा। वह एक बार मन्त्र बोलता और एक तार काट देता। जब सभी तार कट गये तो सर्र-से आकाश में उड़ गया। लड़के ने सोचा—पिताजी का बताया मंत्र सच्चा था। मगर मुझे धन की आवश्यकता थी और वह मिल गया। तब जान जोखिम में डालने की क्या आवश्यकता है?

अरुणोदय हुआ। पूर्व दिशा में लाली छा गई। कुछ-कुछ प्रकाश फैलने लगा। सिपाही झाड़ी में दाखिल हुए। उन्होंने चोरी के माल के साथ लड़के को पकड़ लिया।

लड़का हैरान था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसने कहा—मुझे आप क्यों पकड़ते हैं? मैंने अपराध क्या किया है?

सिपाही—चोरी का माल पास में रख छोड़ा है और पूछता है—क्यों पकड़ते हो?

लड़का—चोरी का माल? यह चोरी का है? मुझे एक आदमी ने दिया है और वह आकाश में उड़ गया है।

सिपाही—चल, रहने भी दे। अब भी हमें उल्लू बनाना चाहता है! आदमी कहीं आकाश में उड़ते होंगे! चालाक कहीं का!

लड़के के होश उड़ गये। वह पश्चात्ताप करने लगा कि अगर मैंने पिताजी के वचनों पर विश्वास किया होता तो यह दिन नहीं देखना पड़ता।

३१ : दृष्टि-भेद

किसी गाँव में एक हाथी आया। उसे देखने के लिए गाँव के लोग जमा हो गए। उस गाँव में कुछ अन्धे भी रहते थे। वे भी हाथी देखने चले। रास्ते में किसी ने उनसे कहा—तुम्हारे आँखें नहीं हैं, हाथी कैसे देखोगे ? अन्धों ने कहा—हम हाथ फेरकर हाथी देख लेंगे।

अन्धे हाथी के पास पहुँचे और हाथ फेरकर देखने लगे। एक अन्धे के हाथ में हाथी का दाँत आया। वह कहने लगा—मैं समझ गया, हाथी कैसा होता है ! हाथी मूसल जैसा होता है।

दूसरे अन्धे के हाथ में हाथी की सूँढ़ आई। वह पहले अन्धे से कहने लगा—तेरा कहना गलत है। हाथी मूसल जैसा नहीं, कोट की बाँह सरीखा होता है।

तीसरे अन्धे के हाथ में हाथी का पैर आया। उसने कहा—तुम दोनों झूठे हो। हाथी खम्भा सरीखा है।

चौथे के हाथ हाथी का पेट लगा। वह बोला—तुम तीनों झूठ कहते हो। हाथी तो कोठी सरीखा होता है।

पाँचवें अन्धे के हाथ में हाथी के कान आये। वह बोला—तुम सभी झूठे हो। हाथी तो सूप (छाजला) सरीखा है।

इस प्रकार और भी अन्धे एक-दूसरे को झूठा कहने लगे और आपस में झगड़ने लगे। इतने में वहाँ एक आँख वाला मनुष्य आ पहुँचा। आँख वाले ने उन अन्धों से कहा—तुम लोग आपस में लड़ते क्यों हो ? तुम सब एक-एक अंश में सही कहते हो। पर जब सबकी

मान्यताओं का समन्वय करोगे तभी हाथी का परिपूर्ण स्वरूप समझ में आएगा।

आखिरकार उस आँख वाले पुरुष ने उन अन्धों को हाथी के एक ही अंग को हाथी मान लेने से कैसी भ्रमणा उत्पन्न होती है, यह बात समझाई और यह भी समझाया कि किस प्रकार सब के मन्तव्य का समन्वय करने से पूर्ण वस्तु का पता चलता है।

इस दृष्टान्त का सार यह है कि जो व्यक्ति अन्धों की तरह वस्तु के एक अंश को स्वीकार करके अन्य अंशों का सर्वथा खण्डन करता है और एक ही अंश को पकड़ रखने का आग्रह करता है, वह मिथ्यात्व में पड़ जाता है। दूसरे नयों का निषेध करने वाला व्यक्ति स्वयं जिस नय का अवलम्बन करता है, उसका वह नय दुर्नय बन जाता है। अतएव अपनी ही बात का हठ न पकड़कर दूसरों के कथन पर भी सम्यक्प्रकार से विचार करना चाहिए और विवेक के साथ पूर्वापर विचार करके सत्य वस्तु पर श्रद्धा रखना चाहिए। यही सम्यक्त्व है। पुण्योदय होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। स्याद्वाद-सिद्धान्त किसी किस्म का दुराग्रह न करके यह मानने का उपदेश देता है कि जो सच्चा है सो मेरा, यह नहीं कि मेरा सो सच्चा। अतएव सम्यक्त्व प्राप्त करके मोक्ष की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करो। सम्यक्त्व में पराक्रम करना ही मोक्ष-प्राप्ति का राजमार्ग है।

३२ : अर्हन्नक की धर्मवीरता

जैसे आप धन चाहते हो, उसी प्रकार अरणक भी चाहता था। आप व्यापार करते हैं, अरणक भी व्यापार करता था। एक बार अरणक का जहाज देवता ने दो उँगलियों से उठाकर रोक दिया। तमाम लोग घबरा उठे। बोले—एँ अरणकजी! तुम क्यों जिद करते हो! तुम्हारी जिद हमें भी ले बैठेगी।

अरणक ने विश्वस्त भाव से उत्तर दिया—भाइयो! घबराते क्यों हो? तुम्हें डुबाने वाला कौन है?

लोग कहने लगे—वाह भाई, जहाज दो उँगलियों से उठाया हुआ है। पलभर में उलट सकता है। फिर पूछते हो—कौन उलट सकता है?

अरणक ने कहा—मुझसे अधर्म को धर्म मानने के लिए कहा जा रहा है। मैं अधर्म को धर्म कैसे मानूँ? जहाज को डुबाता कौन है? अधर्म ही डुबाता है। धर्म तो तारने वाला है। अगर जहाज डूब भी गया तो चिन्ता क्या है? अधर्म ही तो डूबेगा!

आखिर हार मानकर देवता ने कहा—धन्य है तुझे! तू परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। तेरा धर्म दृढ़ है।

मित्रो! जिद करो तो ऐसी करो। सत्य की जिद करने वाले का कल्याण हो जाता है।

३३ : परमात्मा की विभुता

परमात्मा को अविनाशी और विभु जानने का प्रमाण है—पाप में प्रवृत्ति न करना। जिसे परमात्मा की नित्यता और व्यापकता पर विश्वास होगा, उससे पापकर्म कदापि न होगा। आपके साथ राजा का सिपाही हो, तब आप क्या चोरी करेंगे? आपको भय रहेगा कि सिपाही देखता है, चोरी कैसे करें? इसी प्रकार जिसने परमात्मा को व्यापक जान लिया, वह किसी के साथ कपट कैसे कर सकता है? जब कभी उसके हृदय में विकार उत्पन्न होगा और कपट करने की इच्छा का उदय होगा, तभी वह सोचेगा—ईश्वर व्यापक है, उसमें भी है, मुझमें भी है, मैं कैसे कपट करूँ? मैं जो ठगाई की बुराई करना चाहता हूँ, उसे परमात्मा देख रहा है। ऐसी स्थिति में मैं कैसे इस पाप में प्रवृत्त होऊँ?

परमात्मा की सच्ची प्रार्थना करके हमें इस उच्च स्थिति तक पहुँचना है। एक उदाहरण के द्वारा यह बात सरलता से समझ में आयेगी।

एक गुरु के पास दो व्यक्ति शिष्य बनने के लिए गये। गुरु के पास पहुँचकर उन्होंने निवेदन किया—महाराज! हम आपकी विद्या, बुद्धि और शक्ति की प्रशंसा सुनकर आकर्षित हुए हैं और आपके शिष्य बनकर सब विद्याएँ प्राप्त करना चाहते हैं। कृपा करके आप हमें अपना शिष्य बनाइये।

गुरु को शिष्य का लोभ नहीं था। अतएव उसने कहा—आपको चेला बनना सरल मालूम होता है पर मुझे गुरु बनना कठिन जान पड़ता है। इसलिए पहले परीक्षा कर लूँगा।

आप लोग रुपये बजा-बजाकर लेते हैं और बहिनें हंडियाँ ठोक-वजाकर लेती हैं। ऐसा न करने से बाद में कभी-कभी पछताना पड़ता है और उपालम्भ सहना पड़ता है। इसी प्रकार चेले खराब निकलें तो गुरु को उपालम्भ मिलता है। यों तो भगवान का शिष्य जमाली भी खराब निकला, परन्तु पहले जाँच-पड़ताल कर लेना आवश्यक है।

ऐसा विचार कर गुरु ने उन दोनों से कहा—पहले परीक्षा कर लूंगा, फिर शिष्य बनाऊँगा।

शिष्य—जी, ठीक है। परीक्षा कर देखिए।

गुरु ने कोठरी में जाकर एक मायामय कबूतर बनाया और बाहर आकर चेले से कहा—इसे ले जाओ और ऐसी जगह मार लाओ, जहाँ कोई देखता न हो।

पहले चेले ने कबूतर हाथ में लिया और सोचा—यह कौन कठिन काम है, ऐसी जगह बहुत है, जहाँ एकान्त है—कोई देखता नहीं और मारना तो कबूतर ही है, कोई शेर तो मारना है नहीं। यह सोचकर वह कबूतर को ले गया और किसी गली में जाकर, उसने कबूतर की गर्दन मरोड़ डाली। मरा हुआ कबूतर लेकर वह गुरु के पास आया। बोला—लीजिए, गुरुजी, यह मार लाया। किसी ने देखा नहीं।

गुरु ने कहा—तुम शिष्य होने योग्य नहीं। अपने घर का रास्ता कपड़ो।

चेला—क्यों, मैं अयोग्य कैसे ? मैंने ठीक तरह आपकी आज्ञा का पालन किया है।

गुरु—नहीं, तूने मेरी आज्ञा का पालन नहीं, उल्लंघन किया है।

चेला—मगर आज्ञा तो कबूतर को मारने की ही दी थी आपने ! और मैंने उसका पूरी तरह पालन किया है।

गुरु—लेकिन मैंने यह भी तो कहा था कि ऐसी जगह मारना

जहाँ कोई देखता न हो। 'कोई देखता न हो' यहाँ 'कोई' में तो सभी शामिल हो जाते हैं। मारने वाला तू, मरने वाला कबूतर और परमात्मा—जो विभु है—वह भी 'कोई' में शामिल है। जब तुमने कबूतर मारा तो तुम स्वयं देखते थे, कबूतर देखता था और ईश्वर भी देखता था। इन सब के देखते कबूतर को मारने पर भी किस प्रकार तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया ?

चेला अविनीत था। कहने लगा—ऐसा ही था तो आपको पहले ही साफ-साफ बता देना चाहिए था। पहले मारने की आज्ञा दी और जब मार लाया तो कहने लगे कि आज्ञा का उल्लंघन किया है! आप कैसे गुरु हैं, मैं अब समझ गया।

गुरु—मैंने स्पष्टीकरण नहीं किया था, फिर भी तुम्हें तो समझना चाहिए था। यह सुनकर चेला और ज्यादा भड़का। गुरु ने अन्त में कहा—भैया, तुम जाओ। मैं तुम्हारा गुरु बनने योग्य नहीं हूँ।

गुरु ने दोनों नवागन्तुक शिष्यों को अलग-अलग जगह बिठला दिया था। एक से निपटकर वह दूसरे शिष्य के पास पहुँचे। उसे भी वही कबूतर दिया और पहले की तरह मार लाने की आज्ञा दी।

शिष्य कबूतर लेकर चला। वह बहुत जगह फिरा—खेतों में गया, पहाड़ों में घूमा और अन्त में एक गुफा में घुसा। गुफा में बैठकर वह सोचने लगा—यह जगह एकान्त तो है, मगर गुरुजी का अभिप्राय क्या है ? उनकी आज्ञा यह है कि जहाँ कोई न देखे, वहाँ मारना। मगर यहाँ भी मैं देख रहा हूँ, कबूतर देख रहा है और सर्वदर्शी परमात्मा भी देख रहा है। गुरुजी दयालु हैं। मालूम होता है उन्होंने अपने आदेश में कबूतर की रक्षा करने का आशय प्रकट किया है, मारने का नहीं। चाहे उनके शब्द कुछ भी हों, मगर उन शब्दों से अखण्ड दया का ही भाव निकलता है, मारने का नहीं।

जिसमें इतनी सहज बुद्धि हो, वही शास्त्र का गम्भीर अर्थ समझने में समर्थ होता है। वासना से मलीन हृदय शास्त्र का पवित्र

र्थं नहीं समझ सकता ।

शिष्य सोचने लगा—गुरुजी ने कबूतर की रक्षा की शिक्षा देने साथ ही यह भी जता दिया है कि एकान्त में ही गम्भीर विषय मझ में आता है। गुरुजी ने जो कुछ कहा था, उस पर मैंने एकान्त विचार किया तो मालूम हुआ कि संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं, हाँ परमात्मा न देखता हो । जब परमात्मा सब जगह है तो हिंसा स जगह की जा सकती है ? इस तरह गुरुजी ने मुझे परमात्मा । भी दर्शन कराया है । उन्होंने अपने आदेश द्वारा परमात्मा की भुता का भान कराया है । दयालु गुरुजी ने प्रारम्भ में ही कितनी दर शिक्षाएँ दी हैं !

शिष्य प्रसन्न-चित्त और कबूतर को सुरक्षित लिए गुरु के पास ट आया। गुरुजी भीतर-ही-भीतर अत्यन्त प्रसन्न हुए। लेकिन ऊपर बनावटी क्रोध प्रदर्शित करते हुए कहने लगे—'प्रथमग्रासे मक्षिका-तः।' तुमने तो मंगलाचरण ही बिगाड़ दिया । मेरी पहली आज्ञा पालन नहीं किया तो आगे चलकर क्या निहाल करोगे ? तुम ष्य होने के अयोग्य हो, अपना रास्ता नापो ।

शिष्य—आप जो कहेंगे, वही होगा। लेकिन मुझे मेरी अयोग्यता झा देंगे तो कृपा होगी । अयोग्य तो हूँ इसी कारण आपको गुरु ाना चाहता हूँ ।

गुरु—मैंने यह कबूतर मार लाने के लिए कहा था या नहीं ?

शिष्य—जी हाँ, मगर साथ ही यह भी तो कहा था कि जहाँ ई न देखे, वहाँ मारना । मैं जगह-जगह भटका—खेतों में गया, ाड़ों में गया और गुफा में गया । किन्तु ऐसा कोई स्थान नहीं ला, जहाँ कोई देखता न हो । लाचार हो वापस लौट आया ।

गुरु—गुफा में कौन देखता था ?

शिष्य—प्रथम तो मैं ही देख रहा था, दूसरा कबूतर स्वयं ख रहा था और तीसरा परमात्मा देख रहा था । गुफा में जाकर

मैंने विचार किया तो मालूम हुआ—आपकी आज्ञा मारने के लि
नहीं, रक्षा करने के लिए है। आपने मुझे ईश्वरीय ज्ञान दिया है
अगर आप मुझे शिष्य रूप में स्वीकार करेंगे तो आपकी असीम कृ
होगी। मैं तो आपको गुरु बना चुका हूँ। आपने पहली आज्ञा द्वा
जो तत्त्व समझाया है, वह अकेला ही जीवनशुद्धि के लिए पर्याप्त है
सकता है। लेकिन थोड़ा-सा ज्ञान मिल जाता तो मेरा आत्मा
चमकने लगता।

गुरु ने उसे छाती से लगाकर कहा—बेटा! तू ईश्वर
समझने वाला जिज्ञासु शिष्य है। मैं तुझे ज्ञान दूँगा। अगर तू
ईश्वर को सब जगह न माना होता तो गुरु तेरे साथ कहाँ-कहाँ फिरता
तूने ईश्वर को साक्षी स्वीकार कर लिया है। अब तेरे मन में पा
का प्रवेश न होगा।

३४ : भील-कन्या

एक भील-कन्या थी। वह अपने माँ-बाप के घर रहती थी। वह
व जङ्गल में घूमती तो प्रकृति की शोभा देखकर विचार करती—
ह वृक्ष और यह पहाड़ तो मुझे कुछ निराला ही पाठ सिखाते हैं !
कृति की रचना पर विचार करते-करते उसके दिल में दयाभाव उत्पन्न
आ। वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। धीरे-धीरे उसे ईश्वर के नाम
ो भी धुन लग गई। जिसके दिल में दया होती है, उसे परमात्मा
प्रति प्रीति भी जल्दी हो जाती है। यों तो सभी किसी-न-किसी
कार से परमात्मा का नाम लेते हैं, लेकिन प्रयोजन में बड़ा अन्तर
ता है। कहा है—

> राम नाम सब कोई कहे, ठग ठाकुर अरु चोर।
> विना नाम रीझे नहीं, तुलसी नन्दकिशोर ॥

ठग भगवान का नाम लेकर ठगाई करने निकलता है और
कुर ठगाई से वचने के लिए उसका नाम लेता है। दोनों का प्रयोजन
कतना भिन्न है ? दया के साथ परमात्मा को जपना और वात है
था लोभ-लालच से जपना और वात है !

शवरी में दया थी इसलिए उसे परमात्मा के नाम की लौ लग
ई और उसकी परमात्म-प्रीति बढ़ती गई। यह सब दया का ही
ताप था।

> दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
> तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण ॥

अगर घट में दया है तो जो भी कार्य किया जायगा, अच्छा

ही होगा। दया के अभाव में धर्म की जड़ ही कट जाती है।

पांच और पांच दस होते हैं। कोई गणित का प्रोफेसर किसी से कहने लगे—तुम मूर्ख हो कि पांच और पांच दस मानते हो। हम पढ़े-लिखे विद्वान् हैं। हम कहते हैं—ग्यारह होते हैं। ऐसा कहने वाले प्रोफेसर से आप यही कहेंगे कि हम बिना पढ़े-लिखे ही भले जो पांच और पांच के योग को ग्यारह तो नहीं कहते! ज्ञानी कहते हैं कि दया का धर्म भी 'पांच और पांच दस' की तरह सरल है। उसे सभी सहज ही समझ सकते हैं। वह सब के अनुभव की चीज है। कोई न्यायशास्त्र और व्याकरण का पण्डित आकर आप से कहने लगे कि धर्म अहिंसामय नहीं, हिंसामय है, तो आप उसे मान लेंगे? नहीं, आप यही कहेंगे कि तुम पण्डित होकर के भी असत्य कहते हो? भारत का भाग्य अच्छा है कि यहां सब लोग अहिंसा को ही धर्म मानते हैं। किन्तु स्वार्थी लोग भुलावे में डालने की कोशिश करते हैं। अगर कोई भुलावे में डालने की कोशिश करे तो आप यही कहिए कि तुम वृथा कहते हो। धर्म तो अहिंसा में ही है।

दयाधर्म के प्रताप से शबरी का ईश्वर-प्रेम बढ़ता ही गया। वह बड़ी हुई। माँ-बाप ने उसका विवाह करना निश्चित किया। शबरी मन में सोचने लगी—माँ-बाप मेरा विवाह अब किसके साथ करना चाहते हैं? जिसके साथ विवाह होना था, उसके साथ मैं हृदय से विवाहित हो चुकी हूँ। लेकिन मेरी बात वे मानेंगे कैसे? इस प्रकार के विचार से वह शबरी-कन्या चिन्ता में पड़ गई। उसने परमात्मा से प्रार्थना की—प्रभो! मेरी लाज रखो।

मीरा ने भी ईश्वर को अपना पति बनाया था। उसने कहा था—

संसारी नो सुख काचो,
परणीने रंडावूं पाछो।
तेने घेर शिद जइए,
रे मोहन प्यारा, मुखड़ा नी प्रीत लागी रे॥

परणूं तो प्रीतम प्यारु",
अखण्ड अहिवात म्हारु ।
रांडवा नो भय टालो,
रे मोहन प्यारा ॥
मुखड़ा नी प्रीति लागी रे ॥ मोहन ॥

शवरी भी सोचती थी—क्या कोई ऐसा पति मिल सकता है जो मुझे कभी रांड न बनावे ? पहले सुहागिन बनूं और फिर रांड होऊँ, यह ठीक नहीं है। मैं विवाह करूँगी तो ऐसे के साथ करूँगी कि अहिवात अखण्ड रहे।

शवरी के पिता ने उसकी सगाई कर दी। फिर भी शवरी घवराई नहीं। वह सोचती थी कि मेरे हृदय में भगवान है तो सब ठीक ही होगा। अगर पिता ने व्याह भी दिया तो भी क्या है ? मेरे हृदय में तो परमात्मा बस रहा है। मैं उसी की हूँ।

विवाह का समय आया। बरात आ पहुँची। शवरीकन्या के पिता ने वरातियों को जिमाने के लिए मुर्गी, तीतर आदि पक्षी इकट्ठे कर रखे थे। उन सब को एक पींजरे में डाल रखा था।

रात का समय था। शवरी सोई हुई थी। किसी कारण से सब पक्षी चूं-चाँ करने लगे। प्रकृति न मालूम किस तरीके से क्या काम करती है ? शवरी की नींद खुल गई। पक्षियों का कोलाहल सुनकर शवरी सोचने लगी—पक्षी क्यों चिल्ला रहे हैं ? यह क्या कहते हैं ? अचानक उसे ध्यान आया—पक्षी शायद कह रहे हैं कि तू विवाह करती है और हम मारे जायेंगे ! शवरी उठी और उसने पींजरा खोल दिया। पक्षी अब स्वतन्त्र थे। अपनी जान लेकर भागे। इधर शवरी ने सोचा—मेरे विवाह करने से पहले इतने जीव वन्धन में पड़ेंगे। अगर विवाह कर लूंगी तो न जाने कितने वन्धन में पड़ेंगे ! मैंने इन्हें स्वतन्त्र कर दिया है। मेरे ऊपर जो बीतेगी, भुगत लूंगी। पर इन्हें स्वतन्त्र करने वाली स्वयं वन्धन में क्यों पड़े ?

इस प्रकार विचार कर शबरी-कन्या रात्रि में ही घर से निकल पड़ी। वह सोचने लगी—लेकिन मैं जाऊँगी कहाँ? जहाँ जाऊँगी वहीं से पिता पकड़ लाएँगे। मगर—

समझ सोच रे मित्र सयाने,
आशिक हो फिर रोना क्या रे।
जिन अँखियन में निद्रा गहरी,
तकिया और बिछौना क्या रे!
रूखा-सूखा गम का टुकड़ा,
फीका और सलौना क्या रे!
पाया है तो दे ले प्यारे,
पाय पाय फिर खोना क्या रे!

शबरी-कन्या सोचती है—मेरा मन भगवान पर आशिक हुआ है तो डर किसका? वे जानवर मौत के नजदीक थे। मैंने उनकी पुकार सुनी और उन्हें स्वतन्त्र कर दिया है। तो मैं भी कुछ पुण्य लेकर ही जनमी होऊँगी! नहीं तो उन पक्षियों को खोल देने की भावना मुझ में कहाँ से आई? इसलिए चलना चाहिए।

कहत कबीर सुनो भाई साधो,
शीश दिया फिर रोना क्या रे!

सिर दिया है तब सोच कैसा? चल, निकल चल। रात है, अंधेरा है, यही भाग निकलने का उपयुक्त अवसर है। शबरी निकल चली। उसने निश्चय किया—इन पक्षियों की रक्षा हुई तो मेरी भी रक्षा होगी।

सवेरा हुआ। घर के लोग जागे। देखा, पींजरा खाली पड़ा है। सोचा—हाय, अनर्थ हो गया! किस पापी ने यह कुकर्म कर डाला! अब मेहमानों का सत्कार कैसे होगा? ऐन वक्त पर सारी बात बिगड़ गई।

जब किसी के स्वार्थ में बाधा पड़ती है तो वह दूसरों को पापी

कहने लगता है। पाप—पुण्य की कसौटी उसका स्वार्थ ही होता है।

थोड़ी देर बाद पता चला कि कन्या भी गायब है। अब घर वाले बड़े चिंतित हुए। बरात वालों को कैसे मुख दिखलाएँगे। क्या कहकर उनसे क्षमा माँगेंगे? सब इधर-उधर भागे। सब जगह खोज की। कन्या का पता न चला। शबरी जंगल में स्वतन्त्रता के साथ रहने लगी। वह सोचने लगी—मैंने घर त्याग दिया है। सत्संग करने की मेरी तीव्र लालसा है। लेकिन मैं भील के घर जनमी हूँ! ऋषि मुझे पास भी नहीं फटकने देंगे। ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए? ऋषि कुछ भी करें, मुझे सत्संग करना ही है। वह भले मुझे न छूने दें, मैं उनकी सेवा दूर से ही करूँगी। यह विचार कर वह सेवा करने के उद्देश्य से ऋषियों के पास गई। मगर उन्होंने पापिनी कहकर उसे दुत्कारा। ऐसे समय में क्रोध आना स्वाभाविक था, मगर सच्चा भक्त कभी क्रोध नहीं करता। वह शान्त रही।

मन मस्त भयो फिर क्या बोले,
हीरा पाया गाठ गँठियाया,
बार-बार याको क्यों खोले?
ओछो थी जब चढ़ी तराजू,
पूरी हुई अब क्या तोले?
हँसा माया मान सरोवर,
डावर-डावर क्यों डोले?
तेरा साहिब तेरे घट में,
बाहर नयना क्यों खोले?
मन.....................बोले॥

शबरी सोचने लगी—मेरी समीपता से ऋषियों का धर्म जाता है तो मैं दूर ही रहूँगी। मैं क्यों उनका धर्म बिगाड़ूँ? मैंने भक्ति करने की ठानी है। वह तो कहीं भी हो सकती है? वह पिछली रात में जल्दी ही उठ बैठती और जिस रास्ते ऋषि आते-जाते थे,

उसे साफ कर देती थी। वह सोचती—यही उनकी भक्ति है कि उन्हें काँटे न लगें।

ऋषियों ने पहले दिन सवेरे उठकर देखा कि मार्ग एकदम साफ है। किसी ने झाड़-बुहार दिया है। तब वे आपस में कहने लगे—यह हमारी तपस्या का प्रताप है। हमारी तपस्या के प्रताप से देव आकर मार्ग साफ कर गये हैं। इस प्रकार सभी ऋषि अपनी-अपनी तपस्या का फल बतलाकर आपस में वाद-विवाद करने लगे। शबरी यह जानकर हँसी। उसने सोचा—चलो ठीक है। मुझे देव की पदवी मिली! जब ऋषि लोग आपस में विवाद करने लगे तो एक वृद्ध ऋषि ने कहा—हम कल निर्णय कर लेंगे कि किसके तप के प्रताप से कौन देव आकर मार्ग साफ करता है! अभी आप लोग अपना-अपना काम कीजिए।

दूसरे दिन शबरी फिर मार्ग साफ करने लगी। शृंगी ऋषि रखवाली कर रहे थे। उन्होंने दूसरे ऋषियों से कहा—देख लो, यह देवता मार्ग साफ कर रही है। आप सब इसे प्रणाम कीजिए। यह हम लोगों से भी ऊँची है।

शृंगी ऋषि की बात सुनकर बहुत-से ऋषि कुपित हो गए। कहाँ एक शबरी और कहाँ हम ऋषि! हमसे कहते हैं—शबरी को प्रणाम करो! यह तो कहते नहीं कि उसने मार्ग अपवित्र कर दिया, उलटी उसकी प्रशंसा करते हैं। शृंगी प्रायश्चित्त करें, अन्यथा उन्हें अलग कर दिया जाय!

शृंगी ऋषि ने शांतिपूर्वक कहा—तुम झूठे तपस्वी हो। सच्ची तपस्विनी तो यही है।

ऋषिगण—ऋषियों की निन्दा करने वाला हमारे आश्रम में नहीं रह सकता। तुम आश्रम से बाहर निकल जाओ।

शृंगी—मिथ्या अभिमान रखने वालों के साथ रहने से कोई लाभ भी नहीं है। लो, मैं जाता हूँ।

शृंगी ऋषि आश्रम से बाहर निकल पड़े। उन्होंने शवरी से कहा—माता, आओ। अगर तुम मुझे अपना पिता समझती हो तो तुम मेरी पुत्री हो।

दोनों कुटी बनाकर रहने लगे। शृंगी ऋषि शवरी को ज्ञान सुनाने लगे। शवरी कहती—पिता न मालूम किसके साथ मेरा विवाह कर रहे हैं। अव आपकी दया से ज्ञान के साथ मेरा विवाह हो गया।

इसी तरह कुछ दिन वीत गये। ऋषि का अन्तिम समय आ गया। शबरी ने कहा—अव कौन मुझे ज्ञान देगा!

ऋषि ने धीमे स्वर में कहा—अव तुझे ज्ञान सुनाने की आवश्यकता नहीं। 'दशरथपुत्र राम वन में आएँगे और तेरे अतिथि वनेंगे। इस तरह तेरा कल्याण होगा।

ऋषि का देहान्त हो गया। शबरी को पूर्ण विश्वास था कि ऋषि की अन्तिम वात अवश्य सत्य होगी। वह सोचने लगी—राम मेरे अतिथि होंगे तो मैं उनका क्या सत्कार करूँगी? यहाँ वेर के सिवाय और क्या है? वेरों से ही राम का सत्कार करूँगी। उसे ध्यान आया—अगर वेर खट्टे हुए तो? खट्टे वेर राम को नहीं देने चाहिए। फिर खट्टे-मीठे का निर्णय कैसे हो? अन्त में उसने कहा—यह निर्णय करने के लिए मेरी जीभ है ही, फिर चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? जीभ से वेर चखती जाऊँगी। मीठे-मीठे राम के लिए वचाती जाऊँगी और खट्टे-खट्टे मैं खाती जाऊँगी।

शवरी ने सोचा—ऋषि के कथनानुसार राम, सीता और लक्ष्मण के साथ आएँगे। उनके लिए अभी से वेर तोड़कर रख लूँ। कौन जाने, किस समय आ जाएँगे? वक्त पर कहाँ से लाऊँगी? इस प्रकार विचार कर वह मीठे-मीठे वेर संग्रह करने लगी।

आप एक भीलनी की कथा सुन रहे हैं। यह उदाहरण अपनी सद्बुद्धि जगाने के लिए है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इन नीच कहलाने वालों में भी कैसी उज्ज्वल भावनाएँ भरी रहती हैं।

भील-भीलनी में प्रायः दया नहीं होती । उन्हें मार-काट की शिक्षा मिलती है । लेकिन इस भीलनी में कैसी दया थी कि उसने पक्षियों को स्वतन्त्र कर दिया और वरात आ जाने पर भी विवाह न करके घर से बाहर निकल आई ! जब एक भीलनी भी इतना त्याग कर सकती है तो आपको कितना त्याग करना चाहिए ? अपनी आत्मा से पूछो—हे आत्मन् ! तू क्या कर रही है ? उस भीलनी ने विवाह करना त्याग दिया तो तुम क्या लड़की के वदले में पैसा लेना भी नहीं त्याग सकते ?

शवरी राम के लिए वेर वीन-वीनकर इकट्ठे कर रही थी। उसे अगर दुःख था तो यही कि शृंगी ऋषि ने मुझ पर इतना उपकार किया लेकिन उनके साथी ऋषियों ने उन्हें लाँछन लगाया। मेरे और उन ऋषि के पवित्र प्रेम का साक्षी राम के सिवाय और कौन हो सकता है ? राम आएँगे तो पता चलेगा ।

शवरी जिस वन में रहती थी, राम, सीता और लक्ष्मण उसी वन में पहुँचे । ऋषियों को राम का आगमन मालूम हुआ । सब ऋषि यह सोचकर प्रसन्न हुए कि राम का सत्संग होगा और उनसे तत्त्वज्ञान की वातें होंगी । उन्होंने संसार के राज्य आदि सुखों को त्याग दिया है, इसलिए वे महापुरुष हैं । सभी ऋषि सोचने लगे कि राम हमारे आश्रम में टिकेंगे, क्योंकि हमारी तपस्या वहुत है ।

मगर राम वहाँ पहुँचे तो सीधे शवरी की कुटिया पर गये। शवरी में सत्य का वल था । ऋषि कहने लगे—राम भी भूल गए जो हमारे यहाँ न आकर भीलनी के यहाँ गये हैं । आखिर वह भी तो मनुष्य ही ठहरे ।

राम शवरी के पास पहुँचे । राम को शवरी का हाल कैसे मालूम हुआ, यह कौन कह सकता है ! मगर सत्य छिपा नहीं रहता । सत्य में अद्भुत आकर्षण होता है, उसी आकर्षण से राम शवरी के पास खिंचे चले गये । राम के पहुँचते ही शवरी हर्ष-विभोर हो गई

जैसे अन्धे को आँख मिलने पर हर्ष होता है, उसी तरह राम के मिलने पर शवरी को हर्ष हुआ। वह भक्ति से विह्वल होकर राम के पैरों में गिर पड़ी।

राम ने कहा—शवरी, तेरा हृदय मुझ से पहले ही मिल चुका है। अव कुछ विछाने को ला तो वैठें।

शवरी के पास विछाने को क्या था? उसने कुश की एक चटाई वना रखी थी। वह उठा लाई और विछा दी। राम उस पर वैठ गए। वह लक्ष्मण से कहने लगे—लक्ष्मण! यह कुशासन कितना नम्र है? हम लोग उत्तम-से-उत्तम विछौनों पर सोये हैं, मगर जो आनन्द इसमें है वह उनमें कहाँ?

लक्ष्मण—इस चटाई के आनन्द के आगे मैं तो अवध का आनन्द भी भूल गया हूँ!

सीता—जिसके दिये विछौने से आपने और देवर ने इतना आनन्द पाना उस शवरी का भाग्य मेरे भाग्य से भी वड़ा है! मैं महल में कितनी तैयारी किया करती थी, लेकिन कभी आपने ऐसी सराहना नहीं की। वास्तव में शवरी मेरे लिए ईर्षा का कारण वन गई है!

शवरी—प्रभो! कुछ खाने को लाऊँ?

राम—हाँ, मुझे ऐसी भूख लगी है कि तेरे हाथ के भोजन के विना मिट ही नहीं सकती।

शवरी अपने वल्कल वस्त्र में वेर भर लाई। शवरी के झूठे वेर कौन खाता? मगर वह राम थे। वास्तविकता को समझने वाले और भावना के भूखे थे। वेर खाकर राम कहने लगे—वड़े मीठे वेर हैं शवरी! तवीयत प्रसन्न हो गई। वड़ा आनन्द हुआ।

शवरी के वेरों में क्या विशेषता थी? औरों ने राम को मीठा खिलाया होगा और स्वयं भी मीठा खाया होगा। लेकिन शवरी ने खट्टे वेर खाये और राम के लिए मीठे रखे। इसके सिवाय शवरी का निस्वार्थ था। किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर उसने राम का सत्कार

किया था।

चन्दनबाला के उड़द के बाकले भी ऐसे ही थे। भगवान महावीर पांच महीना पच्चीस दिन से उपवासी थे। फिर भी उन्होंने बाकलों में आनन्द माना। देवों ने उस काम की सराहना की थी।

लक्ष्मण कहने लगे—आपने बेरों की प्रशंसा कह बताई, लेकिन मैं तो इनकी तारीफ ही नहीं कर सकता! इतना कहकर लक्ष्मण ने शबरी से कहा—माता, और बेर ले आ। सीताजी ने भी बेर खाये। उन्हें भी मालूम हुआ, जैसे भीलनी ने बेरों में अमृत भर दिया है।

राम ने कहा—सीता, तुमने उत्तमोत्तम भोजन कराये हैं, मगर पति-पत्नी के सम्बन्ध से। शबरी ने किस सम्बन्ध से बेर खिलाये हैं?

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई,
बर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे भई सब जहँ पहुँनाई।
तब तहँ कहि शबरी के फलन की रुचिमाधुरी बताई।
जानत····································रघुराई।

राम की पहुँनाई कहाँ न हुई होगी? आज राम नहीं हैं फिर भी उनकी पहुँनाई के नाम पर लाखों खर्च हो जाते हैं; तो उस समय कहाँ न हुई होगी? मगर जब और जहाँ उनकी पहुँनाई हुई तब वहाँ उन्होंने शबरी के फलों की ही सराहना की।

आज लोग राम को रिझाने के लिए चतुराई से काम लेते हैं। सरलता का त्याग कर देते है। किन्तु—

चतुराई रीझे नहीं,
महाविचक्षण राम।

राम हृदय की सरलता पर रीझते थे। कपट उन्हें रिझा नहीं सकता था।

ऋषि आलोचना करने लगे—शृंगी ऋषि भूला ही था, राम भी भूल गये! कलियुग आ रहा है न? राम को ऋषियों का आश्रम प्यारा

नहीं लगा और भीलनी की कुटिया अच्छी लगी। खैर, राम गये तो जाने दो। चलो, हम लोग स्नान भोजन करें।

ऋषि स्नान करने सरोवर पर गये। सरोवर पर नजर पड़ी तो चकित रह गए। सरोवर का पानी रक्त की तरह लाल-लाल हो गया और उसमें कीड़े बिलबिला रहे हैं।

काठियावाड़ के इतिहास की एक बात स्मरण हो आती है। काठियावाड़ के एक चारण की दो भैंसें चोर चुराकर ले जा रहे थे। एक काठी सरदार ने चोरों से वह भैंसें छुड़ा लीं और अपनी भैंसों के साथ रख लीं। चारण को मालूम हुआ कि हमारी भैंसें अमुक सरदार के पास हैं। वह कुछ लोगों को साथ लेकर सरदार के पास पहुँचा। उसने कहा—हमारी दो भैंसे आपके यहाँ हैं, वह हमें दे दीजिए।

भैंसें दोनों अच्छी थीं। सरदार लालच में फँस गया। उसने कहा—हमारे यहाँ तुम्हारी कोई भैंसें नहीं हैं।

चारणों ने कहा—हैं, आपके यहाँ हैं। आप अपनी भैंसें हमें देखने दें।

सरदार ने सोचा—इन्हें भैंसें दिखलाईं तो पोल खुल जायगी। मैं झूठा ठहरूँगा। बदनामी होगी। उसने इधर चारणों को बातों में लगा रखा और उधर दोनों भैंसें कटवा डालीं और जमीन में गड़वा दीं। इसके बाद चारणों को अपनी भैंसें दिखला दीं।

चारणों को विश्वास नहीं हुआ। अन्त में शाप देकर वे वहाँ से चले गये। चारणों के शाप से या किसी अज्ञात कारण से, सरदार जब दूध खाने बैठता तो दूध में कीड़े बिलबिलाने लगते!

शृंगी ऋषि जैसे तपस्वी को लांछन लगाने वाले, शबरी जैसी सरल और भक्त महिला की अवहेलना करने वाले और अन्ततः राम के विरुद्ध विचार करने वाले उन ऋषियों के लिए सरोवर का जल अगर रक्तवत् हो गया और उसमें कीड़े बिलबिलाने लगे तो [illegible] आश्चर्य है?

सरोवर के स्वच्छ जल की यह दशा देखकर एक ऋषि कहा—हमने पहले ही कहा था कि शृंगी और शबरी को दोष म लगाओ। मगर तुम लोग नहीं माने। यह उसी का परिणाम है

दूसरों ने कहा—जो हुआ, सो हुआ। बीती बात की आलोचन करना वृथा है। अब वर्तमान कर्तव्य का विचार करना चाहिए।

अन्त में ऋषियों ने स्थिर किया कि राम को यहाँ लाना चाहिए ऋषि मिलकर राम के पास पहुँचे और निवेदन किया—महाराज पधारो। सरोवर का जल बिगड़ गया है। उसमें कीड़े कुलबुला रहे हैं। हमारा सब काम रुका हुआ है। आप वहाँ पधारो और जल को शुद्ध करो।

राम ने कहा—मेरे चलने से कोई लाभ नहीं होगा। आप लोग इस शबरी के स्नान का जल ले जाइए और सरोवर में छिटक दीजिए। जल शुद्ध हो जायगा।

ऋषि दंग रह गये। सोचने लगे—हम शबरी को पतिता समझते हैं और राम ऐसा कह रहे हैं।

शबरी ने कहा—महाराज! आप मेरे ऊपर बहुत बड़ा बोझा डाल रहे हैं। मैं पतिता अपने स्नान का जल इन ऋषियों के हाथ में कैसे दे सकती हूँ? आप ही पधारिए।

राम—माया में फँसे लोग वास्तविक बात नहीं समझ सकते। मुझे तुम्हारे बीने बेर खाने में जो आनन्द अनुभव हुआ है, वह दुर्लभ है। यह सब तुम्हारी पवित्र भावना का प्रताप है। तुम पवित्र हो अपने स्नान का जल इन ऋषियों को देकर सरोवर का जल शुद्ध कर दो।

शबरी—वैसे तो मैं आपकी आज्ञा नहीं लांघ सकती। आप जो कहें वह मुझे शिरोधार्य है परन्तु मुझे अपने स्नान का जल ऋषियों के हाथ में देना उचित मालूम नहीं होता। अगर आपका आदेश हो तो मैं स्वयं चली जाऊँ?

राम ने अनुमति दे दी। शबरी ऋषियों के साथ सरोवर पर पहुँची। जैसे ही सरोवर में उसने अपना पाँव रखा कि जल निर्मल हो गया। यह चमत्कार देखकर ऋषियों की आँखें खुलीं। अपने किये पर पछताने लगे। कहने लगे—ओह! हमने वृथा ही इस सती की अवहेलना की।

शबरी लौटकर राम के पास आई। उसने कहा—महाराज! मैं अब समझ गई। मुझे इस विचार से बहुत कष्ट होता था कि मेरे कारण शृंगी ऋषि को कलंक सहना पड़ा। आपने मेरा यह दुःख आज दूर कर दिया है। शृंगी ऋषि मुझे सिखा गए हैं—

ग्रंथ पंथ सब जगत के, बात बतावत तीन।
राम हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन॥

अर्थात् हृदय में राम, मन में दया और तन सेवा में लगा रहे। बस, इतनी ही बात मैं जानती हूँ। इससे अधिक कुछ नहीं जानती। मेरा विवाह होने वाला था। विवाह के भोज के लिए पिता ने पक्षी पकड़े थे। वे तड़फड़ा रहे थे। मुझसे नहीं रहा गया और उन्हें मैंने मुक्त कर दिया। मैंने सोचा—बेचारे पक्षी बिना किसी अपराध के मारे जाएँगे और मैं इनकी हत्या में निमित्त बनूँगी।

भगवान अरिष्टनेमि के विवाह के अवसर पर भी मारे जाने के लिए बहुत से पशु एकत्रित किये गए थे। उन्हें देखकर भगवान ने कहा था—मेरे निमित्त से इतने जीवों की हिंसा हो, यह बात मेरे लिए परलोक में शान्तिदायक नहीं हो सकती। क्या हिंसा होने से परमात्मा का भी परलोक बिगड़ता था? नहीं, लेकिन उन्होंने जगत के जीवों को समझाने के लिए ऐसा कहा है।

शबरी के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोग क्रोध, ईर्षा या अभिमान के कारण चाहे जिसे कलंक लगा देते हैं, परन्तु सत्य अन्त में सत्य ही ठहरता है। झूठ अधिक समय तक नहीं ठहर सकता।

राम ने अनुमति दे दी । शवरी ऋषियों के साथ सरोवर पर
ची । जैसे ही सरोवर में उसने अपना पाँव रखा कि जल निर्मल
गया । यह चमत्कार देखकर ऋषियों की आँखें खुलीं । अपने
ये पर पछताने लगे । कहने लगे—ओह ! हमने वृथा ही इस
ी की अवहेलना की ।

शवरी लौटकर राम के पास आई । उसने कहा—महाराज !
अव समझ गई । मुझे इस विचार से बहुत कष्ट होता था कि
कारण शृंगी ऋषि को कलंक सहना पड़ा । आपने मेरा यह दुःख
ज दूर कर दिया है । शृंगी ऋषि मुझे सिखा गए हैं—

ग्रंथ पंथ सब जगत के, वात वतावत तीन ।
राम हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन ॥

अर्थात् हृदय में राम, मन में दया और तन सेवा में लगा
। वस, इतनी ही वात मैं जानती हूँ । इससे अधिक कुछ नहीं
नती । मेरा विवाह होने वाला था । विवाह के भोज के लिए
ता ने पक्षी पकड़े थे । वे तड़फड़ा रहे थे । मुझसे नहीं रहा गया
र उन्हें मैंने मुक्त कर दिया । मैंने सोचा—वेचारे पक्षी विना किसी
पराध के मारे जाएँगे और मैं इनकी हत्या में निमित्त वनूँगी ।

भगवान अरिष्टनेमि के विवाह के अवसर पर भी मारे जाने
लिए वहुत से पशु एकत्रित किये गए थे । उन्हें देखकर भगवान ने
हा था—मेरे निमित्त से इतने जीवों की हिंसा हो, यह वात मेरे
ए परलोक में शान्तिदायक नहीं हो सकती । क्या हिंसा होने से
रमात्मा का भी परलोक विगड़ता था ? नहीं, लेकिन उन्होंने जगत
जीवों को समझाने के लिए ऐसा कहा है ।

शवरी के उदाहरण से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि लोग
ध, ईर्षा या अभिमान के कारण चाहे जिसे कलंक लगा देते हैं,
रन्तु सत्य अन्त में सत्य ही ठहरता है । झूठ अधिक समय तक
हीं ठहर सकता ।

सरोवर के स्वच्छ जल की यह दशा देखकर एक ऋषि ने कहा—हमने पहले ही कहा था कि श्रृंगी और शबरी को दोष मत लगाओ। मगर तुम लोग नहीं माने। यह उसी का परिणाम है।

दूसरों ने कहा—जो हुआ, सो हुआ। बीती बात की आलोचना करना वृथा है। अब वर्तमान कर्तव्य का विचार करना चाहिए।

अन्त में ऋषियों ने स्थिर किया कि राम को यहाँ लाना चाहिए ऋषि मिलकर राम के पास पहुँचे और निवेदन किया—महाराज, पधारो। सरोवर का जल बिगड़ गया है। उसमें कीड़े कुलबुला रहे हैं। हमारा सब काम रुका हुआ है। आप वहाँ पधारो और जल को शुद्ध करो।

राम ने कहा—मेरे चलने से कोई लाभ नहीं होगा। लोग इस शबरी के स्नान का जल ले जाइए और सरोवर में छि दीजिए। जल शुद्ध हो जायगा।

ऋषि दंग रह गये। सोचने लगे—हम शबरी को पतित समझते हैं और राम ऐसा कह रहे हैं।

शबरी ने कहा—महाराज! आप मेरे ऊपर बहुत बड़ा बोझ डाल रहे हैं। मैं पतिता अपने स्नान का जल इन ऋषियों के हाथ में कैसे दे सकती हूँ? आप ही पधारिए।

राम—माया में फँसे लोग वास्तविक बात नहीं समझ सकते मुझे तुम्हारे बीने बेर खाने में जो आनन्द अनुभव हुआ है, वह दुर्लभ है। यह सब तुम्हारी पवित्र भावना का प्रताप है। तुम पवित्र हो। अपने स्नान का जल इन ऋषियों को देकर सरोवर का जल शुद्ध कर दो।

शबरी—वैसे तो मैं आपकी आज्ञा नहीं लांघ सकती। आ जो कहें वह मुझे शिरोधार्य है परन्तु मुझे अपने स्नान का जल ऋषि के हाथ में देना उचित मालूम नहीं होता। अगर आपका आदेश हो तो मैं स्वयं चली जाऊँ?

राम ने अनुमति दे दी । शवरी ऋषियों के साथ सरोवर पर पहुँची । जैसे ही सरोवर में उसने अपना पाँव रखा कि जल निर्मल हो गया । यह चमत्कार देखकर ऋषियों की आँखें खुलीं । अपने किये पर पछताने लगे । कहने लगे—ओह ! हमने वृथा ही इस सती की अवहेलना की ।

शवरी लौटकर राम के पास आई । उसने कहा—महाराज ! मैं अव समझ गई । मुझे इस विचार से बहुत कष्ट होता था कि मेरे कारण शृंगी ऋषि को कलंक सहना पड़ा । आपने मेरा यह दुःख आज दूर कर दिया है । शृंगी ऋषि मुझे सिखा गए हैं—

ग्रंथ पंथ सब जगत के, वात बतावत तीन ।
राम हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन ॥

अर्थात् हृदय में राम, मन में दया और तन सेवा में लगा रहे । वस, इतनी ही वात मैं जानती हूँ । इससे अधिक कुछ नहीं जानती । मेरा विवाह होने वाला था । विवाह के भोज के लिए पिता ने पक्षी पकड़े थे । वे तड़फड़ा रहे थे । मुझसे नहीं रहा गया और उन्हें मैंने मुक्त कर दिया । मैंने सोचा—वेचारे पक्षी विना किसी अपराध के मारे जाएँगे और मैं इनकी हत्या में निमित्त वनूँगी ।

भगवान अरिष्टनेमि के विवाह के अवसर पर भी मारे जाने के लिए वहुत से पशु एकत्रित किये गए थे । उन्हें देखकर भगवान ने कहा था—मेरे निमित्त से इतने जीवों की हिंसा हो, यह वात मेरे लिए परलोक में शान्तिदायक नहीं हो सकती । क्या हिंसा होने से परमात्मा का भी परलोक विगड़ता था ? नहीं, लेकिन उन्होंने जगत के जीवों को समझाने के लिए ऐसा कहा है ।

शवरी के उदाहरण से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि लोग द्वेष, ईर्षा या अभिमान के कारण चाहे जिसे कलंक लगा देते हैं, परन्तु सत्य अन्त में सत्य ही ठहरता है । झूठ अधिक समय तक नहीं ठहर सकता ।

जब शबरी ने तालाब का जल निर्मल कर दिया तो उसका सत्य स्थूल रूप में चमक उठा। उसकी झोंपड़ी तीर्थस्थान के समान बन गई। सब ऋषि उसके आश्रम में आकर कहने लगे—हमने आज ही राम का मर्म समझ पाया है। हम लोग जप-तप करते थे पर यह नहीं जानते थे कि राम किस बात से प्रसन्न होते हैं? आज यह बात समझ गए।

३५ : आत्मबल

पुराण में लिखा है कि एक हाथी परमात्मा का भक्त था। वह भगवान का नाम लिया करता था। उसे मालूम था कि आपत्ति आने पर भगवान सहायता देता है, अतएव उसने भगवान की खुशामद करके भगवान को राजी रखना उचित समझा। जिस प्रकार लोक-व्यवहार में अपना मतलब निकालने के लिए दूसरों को प्रसन्न रखना पड़ता है, उसी भाव से हाथी भगवान को खुश रखने लगा।

जैसे लोग अच्छे-से बड़े मकान में दिखावट के लिए थोड़ा-सा फर्नीचर रख छोड़ते हैं, उसी प्रकार कई लोग अच्छा दिखने के लिए, समाज में अपना मान-सम्मान बढ़ाने के लिए 'धर्म' करते हैं। ऐसा लोग सोचते हैं—संसार के सभी काम हम करते हैं, पर यदि धर्म न करेंगे तो अच्छे न दिखेंगे। लोग हृदय से हमारा आदर नहीं करेंगे। इस प्रकार के विचार से प्रेरित होकर वे धर्म कर लिया करते हैं, जैसे मकान को अच्छा दिखाने के लिए थोड़ा-सा फर्नीचर रख लिया जाता है। मगर सच्चा धर्मिष्ठ पुरुष ऐसा विचार नहीं करता। उसका विचार इससे भिन्न होता है। उसकी दृष्टि में धर्म फर्नीचर नहीं है, वरन् धर्म मकान के समान होता है और अन्यान्य सांसारिक व्यवहार फर्नीचर के समान होते हैं। अर्थात् वह धर्म को मुख्य और अन्य व्यवहारों को गौण समझता है। हाथी, सजावट के लिए फर्नीचर रखने वालों के समान धर्म करने वालों में से एक था। एक दिन हाथी पानी पीने गया। वहाँ एक मगर ने उसका पाँव पकड़ लिया। मगर उसे गहरे पानी की ओर खींच ले चला। यद्यपि

हाथी भी बलवान था, उसने अपना पाँव छुड़ाने के लिए पूरा
लगाया, लेकिन जिसका जोर जहाँ के लिए होता है उसका जोर
चलता है। हाथी स्थलचर प्राणी है, इसलिए उसका जोर जि
स्थल पर काम आ सकता है, उतना जल में काम नहीं आ सकता
दोनों की खींचातानी हुई, लेकिन मगर जल का जीव था, उसक
बल जल में सफल हो रहा था। उसके आगे हाथी की एक न
और वह उसे खींच ले चला। हाथी जब खिंचने लगा और अ
सारी शक्ति लगाकर निराश हो गया तो उसने इतने दिनों तक भगव
की खुशामद की थी। वह पुकारने लगा—प्रभो! मुझे बचाओ
मगर मुझे लिए जाता है। वह मुझे मार डालेगा। त्राहि! त्राहि
माम् त्राहि!

हाथी ने इस प्रकार आर्त्तनाद करके भगवान को बहुत पुकारा,
पर भगवान तक या तो उसकी पुकार पहुँची नहीं या भगवान ने
उस पर ध्यान नहीं दिया। तब वह मन में सोचने लगा—मैंने
था, भगवान भीड़ पड़ने पर भक्त का भय हटाने के लिए भागे-भा
आते हैं, पर यहाँ तो उनके आने का कुछ भी चिह्न नहीं दिखा
देता। मैं बराबर परमात्मा की पुकार कर रहा हूँ, फिर भी मगर
मुझे खींचे ही चला जा रहा है। इस समय भगवान न
सो गये हैं या कहीं चले गये हैं। जान पड़ता है, मैं धोखे में र
ने भगवान पर भरोसा करके वृथा उनकी खुशामद की।

इस प्रकार फर्नीचर के समान जो भक्ति हाथी ने की थ
ह बिगड़ गई। मगर ज्ञानीजनों का कथन है कि आस्तिकता
सी-न-किसी प्रकार उत्थान अवश्य होता है। हाथी के अन्तर
स्तिकता जागृत हुई। अन्त में उसने सोचा—मैं भगवान भग
तो रहा हूँ, पर भगवान मेरी जिह्वा पर ही हैं या हृदय में
अगर मेरे अन्तरंग में ईश्वर का स्थान होता तो मैं मगर
क्यों खींचातानी करता?

रहा हूँ और भगवान को पुकार भी रहा हूँ। यही क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि मैं भगवान पर पूर्ण रूप से निर्भर नहीं हूँ? क्या मैं अपने शरीर-वल को ईश्वर-वल से अधिक महत्त्व नहीं दे रहा हूँ? अगर मैं ईश्वर की शरण में जाता और अपनी समस्त शक्तियाँ उन्हीं के पावन चरणों में समर्पित कर देता तो ईश्वर अवश्य आता। मैं तो अपने शरीर के वल का भरोसा करता हूँ। मल-मूत्र से वने हुए इस शरीर पर मेरा जितना विश्वास है उतना परमात्मा पर भी नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस शरीर को मैं अपना समझता हूँ, उसी को मगर अपना आहार समझता है। मैं कितने भारी भ्रम में हूँ कि मगर के आहार को मैं अपना मान रहा हूँ—उस पर मुझे ममत्व हो रहा है।

इस प्रकार की विचारधारा प्रवाहित होते ही हाथी कहने लगा—अरे मगर! मैं तुझे धिक्कार रहा था; मगर अव मैं समझा कि तुझे धिक्कार देने की आवश्यकता नहीं है। अभी तक मैं तुझे इसलिए भला-वुरा कह रहा था कि मुझे शरीर पर ममता थी और इसी कारण मैं ईश्वर को भूला हुआ था और शरीर-वल पर ही भरोसा लगाये वैठा था। अव मैं समझ चुका हूँ। तेरे द्वारा जो खाया जा सकता है वह मेरा नहीं हो सकता। और जो मेरा है उसे तू खा नहीं सकता। इसलिए भाई, मैं तुझ से क्षमा-याचना करता हूँ। तू मेरी कुछ भी हानि नहीं कर रहा है।

अभी मैंने कहा था—

चाहे फांसी पर लटका दे, भले तोप के मुँह उड़वा दे।
आत्म-वली सव को ही दुआ दे, कभी न दे धिक्कार॥

तोप से उड़ाना क्या कोई भलाई करना है? फिर भी आत्म-वली तोप से उड़ाने वाले को क्यों दुआ देता है? लेकिन अगर तोप से उड़ाने वाले की और तोप से उड़ने वाले की भावना समान ही हो जाय तो फिर आत्म-वली में और तोप से उड़ाने वाले में

अन्तर ही क्या रह जाता है ?

गजसुकुमार मुनि के सिर पर सोमल ब्राह्मण ने जलते अंगारे रख दिये, फिर भी गजसुकुमार मुनि ने सोमल को उपकारी माना या अपकारी ?

उपकारी।

मित्रो ! तुम जो धर्म-क्रिया करते हो, वह लोक को दिखाने के लिए मत करो। अपनी आत्मा को साक्षी बनाकर करो। निष्काम कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर करो। अपनी अमूल्य धर्म-क्रिया को लौकिक लाभ के लघुतर मूल्य पर न वेच दो। चिन्तामणि रत्न को लोहे के बदले मत दे डालो।

'चाहे फाँसी पर लटका दो' यह पद चाहे आधुनिक वातावरण को लक्ष्य करके कहा गया हो, पर हमारे लिए तो हमारे ही शास्त्रों में इसके प्रमाण मौजूद हैं। गजसुकुमार के सिर पर अँगारे [illegible] गये, अनेक मुनियों को कोल्हू में पेरा गया, फिर फाँसी पर लटक[illegible] में क्या कसर रह गई ? इतने उज्ज्वल उदाहरण विद्यमान होने [illegible] भी आप धर्म में वनियाई चला रहे हैं !

हाथी ने मगर से कहा—मुझ में भक्ति है या नहीं, इस परीक्षा तू ही कर रहा है। तू ही है जिससे मेरी भक्ति की परी[illegible] होगी। जा, ले जा, और खा जा। मैं अव अपना बल न लगाऊँगा।

हाथी ने अपना बल लगाना छोड़ दिया। खींचातानी ब[illegible] हो गई। हाथी ने कहा—प्रभो ! भले ही मेरा शरीर चला जा[illegible] पर तू न जाने पाय। मैं यह शरीर देता हूँ और इसके बदले तु[illegible] लेता हूँ।

इस प्रकार विचार कर हाथी ने भगवान के नाम का उच्चार आरम्भ किया। उसने जैसे ही आधे नाम का उच्चारण किया [illegible] उसी समय हाथी में एक प्रकार का अनिर्वचनीय बल प्रकट हुआ उस बल [illegible] प्रभाव से हाथी अनायास ही छूट गया और विपत्ति[illegible]

छूटकर आनन्द में खड़ा हो गया । अपने यहाँ भी कहा है कि पाँच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतना ही समय आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने में लगता है ।

हाथी मगर के फन्दे से छूटकर अलग जा खड़ा हुआ । वह सोचने लगा—कैसी अद्‌भुत घटना है । मैं मगर से कहता हूँ—खा जा और वह मुझे छोड़ गया ।

सांसारिक बल का अभिमान त्याग देने पर आत्म-बल प्रकट होता है । वही भगवद्‌बल है । उसकी शक्ति अचिन्त्य है ।

३६ : शूकरी-इन्द्राणी

एक ऋषि थे। उनसे कोई चूक हो गई। चूक के प्रताप से वह मर कर शूकरी हुए। कर्म की गति बड़ी विचित्र है। जैन शास्त्र के अनुसार भी मुनि को चण्डकौशिक साँप होना पड़ा था।

तो वह ऋषि मर कर शूकरी हुए। उनके तप का कुछ पुण्य तो था ही; मगर चूक के कारण उन्हें इस निकृष्ट योनि में जन्म लेना पड़ा। शूकरी बड़ी हुई। इधर-उधर कूड़ा-कचरा खाने लगी और उसी में प्रसन्न रहने लगी। इस अवस्था में वह ऐसा आनन्द मानने लगी कि मानो इन्द्राणी हो। थोड़े दिनों बाद उसे मस्ती चढ़ी। सूअर के साथ क्रीड़ा करने लगी। गर्भवती हुई। बच्चे हुए। वह उन बच्चों पर बहुत प्रेम करने लगी।

इतने में उसका चूक के कर्म का भोग पूरा हो गया। धर्मराज के घर से विमान आया। धर्मराज के दूतों ने उससे कहा—चल, अब स्वर्ग में चल, तेरा यह कर्मभोग पूरा हो गया है।

सूअरी यह सुनकर रोने लगी। रोती-रोती बोली—अभी मुझे मत ले चलो। मेरे बच्चे अभी छोटे हैं। देखो, वह मैला पड़ा है, मुझे वह खाना है। थोड़े दिन और दया करो। मुझे बचाओ।

सूअरी की बात पर देवदूत हँसने लगे। उन्होंने सोचा—इसकी दृष्टि में स्वर्ग के सुख इन सुखों से भी तुच्छ हैं!

फिर देवदूतों ने कहा—नहीं, तुझे अभी चलना पड़ेगा। साथ लिये बिना हम मानने वाले नहीं।

अन्ततः सूअरी रोती रही और देवदूत उसे ले चले। हम

पहुँचने पर उसका हृदय पलट गया। उन यमदूतों ने उससे कहा— चल, तुझे वापिस लौटा आते हैं। अपने अधूरे काम पूरे कर ले। मगर वह अब लौटने को तैयार नहीं थी। स्वर्ग में पहुँचने के बाद कौन अभागा ऐसा होगा जो सूअर का काम करने के लिए स्वर्ग छोड़कर आएगा!

इस कथा के आधार पर प्रत्येक मनुष्य को अपनी स्थिति पर विचार करना चाहिए कि हमारी स्थिति भी कहीं इस कथन की 'नायिका' जैसी ही तो नहीं है?

दो छोरा दो छोकरी, सो करती ममता माया,
लाख-लाख बेटा हुआ, पछ काम नहीं आया।
परतख देख लो, दुख पड़े सारा, बिललावे जावे चेतन एकलो।
गाफिल मत रह रे, मुश्किल यह अवसर फिर पावणो॥

देवदूत की पालकी सामने खड़ी है। जिसे उसमें सवार होना हो, हो सकता है। लेकिन, सवार होने की इच्छा रखने वाले को आसुरी प्रकृति की बातें छोड़कर दैवी प्रकृति की बातें आचरण में लानी पड़ेंगी। अगर कोई यह कहता है कि आसुरी प्रकृति के बिना काम नहीं चलता तो यह तो सूअरी की जैसी ही बात हुई या नहीं? इस गन्दे जीवन के लिये उच्च जीवन को भूलते हो? संसार बड़ा विषम है। यहाँ बड़ी-बड़ी स्थिति वाले भी नहीं रहे तो तुम्हारी हैसियत ही क्या है? इस बात को भूलकर अगर ऐसी ही स्थिति में पड़े रहे तो समय बीत जाने पर पछताने से भी क्या लाभ होगा?

३७ : मम्मन सेठ

जब तक कोई वस्तु प्राप्त नहीं है, तब तक मनुष्य को उसकी इच्छा होती है, लेकिन जब वह प्राप्त हो जाती है, तब उससे भी आगे की अप्राप्त वस्तु की इच्छा होती है । जैसे-जैसे पदार्थ प्राप्त होते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे इच्छा बढ़ती जाती है । इस तरह संसार की सामग्रियों का अन्त तो आ सकता है, लेकिन इच्छा का अन्त नहीं आता । यह बतलाने के लिए ग्रन्थों में एक कथा आई है ।

मम्मन नाम के एक सेठ के पास ९९ क्रोड़ सोनैया की सम्पत्ति थी । उसने सोचा—मेरी यह विशाल सम्पत्ति मेरे लड़के खर्च [कर] देंगे, इसलिए कोई ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे लड़के इस सम्प[त्ति] को खर्च न कर सकें, किन्तु इसकी वृद्धि करते रहें । मम्मन [सेठ] ऐसा ही उपाय सोचा करता । अन्त में उसने उपाय सोच लिया । उसने अपने घर के भूमिगृह में एक सोने का बैल बनवाया, जिस[के] चारों ओर मणि-माणक आदि मूल्यवान् रत्न लगे हुए थे । मम्म[न] सेठ ने प्रायः अपनी समस्त सम्पत्ति लगाकर वह बैल तैयार कराया । जब बैल बनकर तैयार हो गया, तब मम्मन सेठ बहुत ही प्रस[न्न] हुआ; लेकिन साथ ही उसे यह विचार हुआ कि अकेला होने [के] कारण यह बैल शोभाहीन है । इसलिए ऐसा ही एक बैल और बना कर इस बैल की जोड़ी मिला देनी चाहिए ।

स्वर्ण-रत्न से बने हुए बैल की जोड़ी मिलाने के विचार से प्रेरित होकर मम्मन सेठ फिर धन कमाने लगा । वह धन के लि[ए] न्याय-अन्याय, झूठ-सत्य आदि किसी भी बात की परवाह न करता ।

उसका एकमात्र उद्देश्य पुनः उतनी ही सम्पत्ति प्राप्त करना था, जितनी सम्पत्ति लगाकर उसने भूमिगृह में स्वर्ण-रत्न का बैल बनवाया था। दिन-रात वह इसी चिन्ता में रहता कि मेरा उद्देश्य कैसे पूरा हो? उसे रात के समय पूरी तरह नींद भी न आती। यद्यपि वह धन के लिए अन्य समस्त बातों की उपेक्षा करता था, फिर भी ९९ करोड़ के लगभग सम्पत्ति एकत्रित करना कोई सरल बात न थी, जो चटपट एकत्रित कर लेता।

वर्षा के दिन थे। रात के समय बिस्तर पर पड़ा हुआ मम्मन सेठ यही सोच रहा था कि किस प्रकार बैल की जोड़ी का दूसरा बैल बने! सहसा उसे ध्यान हुआ कि वर्षा हो रही है और नदी में पूर है। नदी में लकड़ियाँ बहकर आती होंगी। मैं पड़ा-पड़ा क्या करता हूँ! नदी से लकड़ियाँ ही क्यों न निकाल लाऊँ! दस-पाँच रुपये की भी लकड़ियाँ मिल गईं, तो क्या कम होंगी!

जिसकी इच्छा बढ़ी हुई है, वह चाहे जैसा बड़ा हो और स्वयं को चाहे जैसा प्रतिष्ठित मानता हो, लेकिन उसे मम्मन सेठ की तरह किसी कार्य के करने में विचार या संकोच न होगा। फिर चाहे वह कार्य उसकी प्रतिष्ठा के अयोग्य ही क्यों न हो!

मम्मन सेठ नदी पर गया। वह नदी के बहाव में आने वाली लकड़ियों को पकड़-पकड़कर निकालने और एकत्रित करने लगा। जब लकड़ियाँ बोझ भर हो गईं, तब मम्मन सेठ बोझ को सिर पर रखकर घर की ओर चला। चलते-चलते वह राजा के महल के पास आया। उस समय रानी झरोखे की ओर से वर्षा की बहार देख रही थी। संयोगवश उसी समय बिजली चमक उठी। बिजली के प्रकाश में रानी ने देखा कि एक आदमी सिर पर लकड़ियों का बोझ लिये नदी की ओर से चला आ रहा है। यह देखकर रानी ने राजा से कहा— महाराज, आपके नगर में कैसे-कैसे दुःखी हैं, यह तो देखिये! अंधेरी रात का समय है, बादल गरज रहे हैं और वर्षा हो रही है, फिर

भी यह आदमी लकड़ी का बोझ लिये जा रहा है। यदि यह दुः[illegible] न होता तो इस समय घर से बाहर क्यों निकलता और कष्ट [illegible] उठाता ! आपको अपनी प्रजा का कष्ट मिटाना चाहिए।

रानी के कहने से राजा ने भी मम्मन सेठ को देखा। वास्तव में यह दुःखी है और इसका दुःख अवश्य मिटाना चाहिए, इस विचार से राजा ने एक सिपाही को बुलाकर उससे कहा कि महल के नीचे जो आदमी जा रहा है, उससे कह दो कि वह सवेरे दरबार में हाजिर हो।

सिपाही गया। उसने मम्मन सेठ को राजा की आज्ञा सुनाई मम्मन सेठ ने कहा—मैं महाराज की आज्ञानुसार सवेरे हाजिर होऊँगा

दूसरे दिन सवेरे, अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर मम्मन सेठ दरबार में पहुँचा। राजा ने उससे आने का कारण पूछा। मम्मन सेठ ने कहा—आपने रात के समय सिपाही द्वारा मुझे दरबार में हाजिर होने की आज्ञा दी थी। मैं हाजिर हुआ हूँ। राजा ने कहा कि—[illegible] तो उस आदमी को हाजिर होने की आज्ञा दी थी जो रात के सम[illegible] लकड़ी का बोझ लिये नदी की ओर से आया था। तुम्हारे लि[illegible] हाजिर होने की आज्ञा नहीं दी थी। मम्मन सेठ ने उत्तर में कहा— वह व्यक्ति मैं ही हूँ। राजा ने साश्चर्य से पूछा—भयंकर रात में सिर पर लकड़ी का गट्ठा रखे हुए नदी की ओर से क्या तुम्हीं चले आ रहे थे ?

मम्मन—हाँ महाराज।

राजा—तुम्हें ऐसा क्या कष्ट है, जो उस समय नदी में [illegible] लकड़ी निकालने गये थे ? यदि कोई जानवर काट खाता अथवा नदी के प्रवाह में बह जाते तो ?

मम्मन—महाराज, मुझे एक बैल की जोड़ मिलानी है। उसके [illegible]लिए धन की आवश्यकता है। इसीलिए मैं रात को नदी के बहाव [illegible] लकड़ियाँ निकालने के लिए गया था।

मम्मन सेठ के कथन से राजा ने समझा—बनिये लोग स्वभावतः कृपण हुआ करते हैं, इसलिए कृपणता के कारण यह सेठ अपने पास से पैसे लगाकर बैल नहीं लाना चाहता, किन्तु इधर-उधर से पैसे एकत्रित करके उनसे बैल लाना चाहता है। यह विचार कर राजा ने मम्मन सेठ से कहा—बस इसीलिए अपने प्राणों को इस प्रकार आपत्ति में डाला था ? तुम्हें जैसा भी चाहिए, वैसा एक बैल मेरी पशुशाला से ले जाओ।

मम्मन—मेरे यहाँ जो बैल है, उसकी जोड़ का बैल आपके यहाँ नहीं हो सकता।

राजा—मेरे यहाँ वैसा बैल नहीं है, तो खजाने से रुपये लेकर वैसा बैल खरीद लाओ !

मम्मन—महाराज, वैसा बैल मोल भी नहीं मिल सकता।

राजा—तुम्हारा बैल कैसा है, जिसकी जोड़ का बैल मेरी पशुशाला में भी नहीं मिल सकता और मोल भी नही मिल सकता ! तुम्हारे उस बैल को यहाँ मंगवाओ। मैं देखूंगा।

मम्मन—वह बैल यहाँ नहीं आ सकता। हाँ, यदि आप मेरे घर पधारें, तो उस बैल को अवश्य देख सकते हैं।

राजा ने मम्मन सेठ के यहाँ जाना स्वीकार किया। राजा को साथ लेकर मम्मन सेठ अपने घर गया। वह राजा को तहखाने में ले गया और स्वर्ण-रत्न का बैल बताकर कहा—महाराज, मैं इस बैल की जोड़ी मिलाना चाहता हूँ। उस रत्नजटित स्वर्ण-बैल को देखकर राजा दंग रह गया। वह सोचने लगा कि—इस बैल को बनवाने में जितनी सम्पत्ति लगी है, उतनी सम्पत्ति से जब इसको सन्तोष नहीं हुआ, तब ऐसा दूसरा बैल पाकर इसे कब सन्तोष होगा !

इस प्रकार विचार कर राजा लौट आया। उसने रानी से कहा कि—रानी, रात के समय तुमने जिस आदमी को सिर पर लकड़ी का गट्ठा लेकर जाते देखा था, वह आदमी यहाँ का एक धनिक

सेठ है । उसको और किसी कारण दुःख नहीं है, किन्तु तृष्णा के कारण दुःख है । उसे मिटाने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ । उसने ९९ क्रोड सोनैया की लागत का एक बैल बनवाया है, जो सोने का है और जिस पर रत्न जड़े हुए हैं । इतनी सम्पत्ति होने पर भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं हुई और वह वैसा ही दूसरा बैल बनवाना चाहता है । कौन कह सकता है कि वैसा दूसरा बैल बनवा लेने पर उसकी तृष्णा शान्त हो जावेगी और वह सुखी हो जावेगा ? ऐसा आदमी, जब तक उसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, कदापि सुखी नहीं हो सकता ।

३८ : पूनिया श्रावक

एक समय मगधाधिप महाराज श्रेणिक ने श्रमण भगवान महावीर से अपने भावी भव के सम्बन्ध में पूछा। वीतराग भगवान महावीर को राजा श्रेणिक की प्रसन्नता अप्रसन्नता की कोई अपेक्षा न थी। इसलिए राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा कि—राजन् ! यहाँ का आयुष्य पूर्ण करके तुम रत्नप्रभा पृथ्वी यानी नरक में उत्पन्न होओगे। राजा श्रेणिक ने भगवान से फिर प्रश्न किया—प्रभो ! क्या कोई ऐसा उपाय भी है जिससे मैं नरक की वेदना से बच सकूं ? भगवान ने उत्तर दिया—उपाय तो अवश्य है, लेकिन वह उपाय तुम कर न सकोगे। जब श्रेणिक ने भगवान से उपाय बताने के लिए आग्रह किया तब भगवान ने उसे ऐसे चार उपाय बताये, जिनमें से किसी भी एक उपाय के करने पर वह नरक जाने से बच सकता था। उन चार उपायों में से एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक लेना था।

महाराज श्रेणिक ने पूनिया श्रावक के पास जाकर कहा—भाई पूनिया ! तुम मुझ से इच्छानुसार धन ले लो और उसके बदले में मुझे अपनी सामायिक दे दो। राजा के इस कथन के उत्तर में पूनिया श्रावक ने कहा—सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है, यह मैं नहीं जानता हूँ। इसलिए जिनने आपको मेरी सामायिक लेना बताया है, आप उन्हीं से सामायिक का मूल्य जान लीजिये।

राजा श्रेणिक फिर भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने भगवान को पूनिया श्रावक का कथन सुनाकर पूछा—

श्रावक की सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है ? भगवान ने राजा श्रेणिक से पूछा—तुम्हारे पास इतना सोना है कि जिसकी छप्पन पहाड़ियाँ (डुँगरियाँ) बन जावें, परन्तु इतना धन तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है । फिर सामायिक का मूल्य कहाँ से दोगे ? भगवान का यह कथन सुनकर राजा श्रेणिक चुप हो गया।

यह घटना इसी रूप में घटी हो या दूसरे रूप में या कथानक की कल्पना मात्र ही हो, किन्तु बताना यह है कि सामायिक के फल के सामने सांसारिक सम्पदा तुच्छ है, फिर वह कितनी भी और कैसी भी क्यों न हो !

३९ : राजा जनक

इच्छा को परिमित करके भी, यथाशक्ति उन पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिए जो पदार्थ मर्यादा में रखे गये हैं। मर्यादा में रखे गये पदार्थों में वृद्धि न होनी चाहिए। यदि मर्यादा में रहे हुए पदार्थों में वृद्धि न की, उनके प्रति निर्ममत्व रहा, तो पदार्थों का सर्वथा त्याग न कर सकने पर भी वह व्यक्ति एक प्रकार से अपरिग्रही के समान ही माना जायेगा और उसको बहुत अंश में लाभ भी वैसा ही होगा।

भरत चक्रवर्ती छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी थे, लेकिन वे उस राज्य-सम्पदा के प्रति ममत्वहीन रहते थे। इस कारण उन्हें कांच-महल में ही केवलज्ञान हो गया। नमीराज पास समस्त राज्य-सम्पदा विद्यमान थी और वे राज्य भी करते थे, फिर भी 'राजर्षि' कहे जाते थे। इसका कारण यही था कि वे राज्य में मूर्छित नहीं रहते थे।

नमीराज की ही तरह राजा जनक के विषय में भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उनके पास शुकदेवजी ज्ञान सीखने के लिए गये। उन्होंने जनक के द्वार पर जाकर अपने आने की सूचना जनक के पास भेजी। उत्तर में राजा ने उन्हें द्वार पर ही ठहरे रहने को कहलाया। शुकदेवजी तीन दिन तक जनक के द्वार पर ही ठहरे रहे। चौथे दिन जनक ने उन्हें अपने पास बुलवाया। राजा जनक के सन्मुख आकर शुकदेवजी ने देखा कि राजा अच्छे सिंहासन पर बैठा है और उन पर चँवर छत्र हो रहा है। शुकदेवजी सोचने लगे कि पिता ने मुझे इनके पास क्या ज्ञान सीखने भेजा है! यह माया में फँसा हुआ है, मुझको क्या ज्ञान देगा!

शुकदेवजी इस प्रकार सोच ही रहे थे कि इतने ही में राजा के पास खबर आई कि नगर में आग लग गई है और नगर जल रहा है। फिर खबर आई कि आग महल तक आ गई है। तीसरी बार खबर आई—आग ने महल का द्वार घेर लिया है। राजा जनक इन सब खबरों को सुनकर किंचित् भी नहीं घबराये, किन्तु वैसे ही प्रसन्न बने रहे, लेकिन शुकदेवजी चिन्तित हो गये। राजा ने उनसे पूछा—नगर या महल में आग लगने से आपको चिन्ता क्यों हो गई?

शुकदेवजी ने उत्तर दिया—मेरा दण्ड और कमण्डलु द्वार पर ही रखा है। मुझे उन्हीं की चिन्ता है, कहीं वे न जल जायें।

राजा ने उत्तर दिया—मुझको नगर या महल के जलने की भी चिन्ता नहीं है, न दुःख ही है, और आपको दण्ड कमण्डलु की ही चिन्ता हो गई! इस अन्तर का क्या कारण है? यही कि मैं राज्य करता हुआ और नगर तथा महल में रहता हुआ भी इनसे ममता नहीं रखता, इनको अपना नहीं मानता और आप दण्ड कमण्डलु को अपना मानते हैं। आपको आपके पिता ने मेरे पास यही ज्ञान लेने के लिए भेजा है कि जिस प्रकार मैं निर्मम रहता हूँ, उसी प्रकार ममतारहित होकर रहो। संसार के किसी भी पदार्थ को अपना मत समझो, न किसी पदार्थ से अपना स्थायी सम्बन्ध मानो किन्तु यह मानो कि आत्मा अजर तथा अविनाशी है और संसार के समस्त पदार्थ नाशवान हैं। इसलिए आत्मा का सांसारिक पदार्थों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

शास्त्र में नमीराज विषयक वर्णन भी ऐसा ही है। नमीराज को जब संसार की असारता का ज्ञान हो गया था और वे विरक्त हो गये थे, उस समय उनकी परीक्षा करने के लिए इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश बनाकर उनसे कहा था कि वह देखो तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है! तब नमीराज ने उत्तर दिया था—

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचणं।

मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचणं ॥

अर्थात्—मैं सुख से रहता हूँ और सुखपूर्वक ही जीवित हूँ, महल और मिथिला नगरी से मेरा कोई सम्वन्ध नहीं है। मिथिला नगरी के जलने से मेरा कुछ भी नहीं जलता।

तात्पर्य यह कि मर्यादा में रहे हुए पदार्थों से भी ममत्व न करना, किन्तु निर्मम रहना। उनकी प्राप्ति से प्रसन्न न होना, न उनके वियोग से दुःख करना।

४० : भरत और सुनार

भगवान ऋषभदेव समवसरण में विराजमान थे। द्वादश प्रकार की परिषद् भगवान का उपदेश श्रवण कर रही थी। भगवान ने अपने उपदेश में कहा—महारम्भी और महापरिग्रही की अपेक्षा अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही शीघ्र मोक्ष जाता है। भगवान का यह उपदेश एक सुनार ने भी सुना। उसने सोचा—मेरे पास बहुत थोड़ी सम्पत्ति है और मैं आरम्भ भी बहुत कम करता हूँ। दूसरी ओर भरत चक्रवर्ती के पास छः खण्ड पृथ्वी का राज्य है, चौदह रत्न हैं और अनेक प्रकार की सम्पत्ति है, इसलिए वे महापरिग्रही हैं और राजकार्यादि में आरम्भ भी बहुत होता है। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती की अपेक्षा मैं अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही हूँ तथा मेरी अपेक्षा भरत चक्रवर्ती महारम्भी, महापरिग्रही हैं। इसलिए भरत चक्रवर्ती से पहले मैं ही मुक्त होऊँगा।

सुनार ने अपने मन में इस प्रकार सोचा। फिर उसने विचार किया कि इस विषय में भगवान से ही क्यों न पूछूं! देखें भगवान क्या कहते हैं? इस प्रकार विचार कर सुनार ने अवसर पाकर भगवान से प्रश्न किया—प्रभो, पहले मेरा मोक्ष होगा या भरत चक्रवर्ती का? त्रिकालज्ञ भगवान ने सुनार के प्रश्न के उत्तर में कहा—पहले भरत चक्रवर्ती को मोक्ष होगा। भगवान का उत्तर सुनकर सुनार ने कहा—यह तो आपने पक्षपात की बात कही। आपने उपदेश में तो यह कहा था कि अल्पारम्भी अल्पपरिग्रही को पहले मोक्ष होगा और अब आप ऐसा कह रहे हैं? भरत चक्रवर्ती महापरिग्रही हैं, और इस प्रकार

महारम्भी हैं तथा मैं इस-इस प्रकार अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही हूँ । फिर भी, भरत आपके पुत्र हैं इसलिये आपने उनका मोक्ष पहले बताया, यह पक्षपात नहीं तो क्या है ?

सुनार की बात के उत्तर में भगवान ने कहा—तुम इस विषय में स्थूलदृष्टि से जो कुछ दिखता है उसी पर विचार कर रहे हो, लेकिन स्थूल दृष्टि से वास्तविकता को नहीं देख सकते । मैंने जो कुछ कहा है, वह ज्ञान में देखकर कहा है । वास्तव में भरत महारम्भी, महापरिग्रह नहीं हैं, किन्तु तुम हो ।

भगवान का कथन सुनार की समझ में नहीं आया । उस समय वहाँ भरत चक्रवर्ती भी मौजूद थे । भरत ने भगवान से प्रार्थना की—प्रभो, इसको मैं समझा दूँगा । यह कहकर भरत चक्रवर्त्ती उस सुनार को अपने साथ ले गये । उन्होंने तेल से भरा हुआ कटोरा सुनार को देकर उससे कहा—इस तेल से भरे हुए कटोरे को लेकर सारे नगर में घूम आओ । लेकिन याद रखो, अगर इस कटोरे में से तेल की एक भी बूंद नीचे गिरी, तो तुम्हारी गर्दन उड़ा दी जायेगी । यह कहकर और तेल का कटोरा देकर, भरत चक्रवर्ती ने सुनार को विदा किया । उन्होंने सुनार के साथ एक दो सिपाही भी लगा दिये ।

तेल का कटोरा लेकर सुनार नगर के वाजारों में घूमने लगा । उसके साथ भरत चक्रवर्ती के सिपाही लगे ही हुए थे । नगर के सब बाजारों में घूमकर सुनार तेल का कटोरा लिए हुये भरत चक्रवर्ती के पास आया । भरत ने उससे पूछा—तुम नगर के सब बाजारों में घूम आये ?

सुनार—हाँ महाराज, घूम आया ।

भरत—इस कटोरे में से तेल तो नहीं गिरने दिया ?

सुनार—तेल कैसे गिरने देता ? तेल गिरता तो आपके ये सिपाही मेरी गर्दन उड़ा देते, आप तक आने ही क्यों देते ?

भरत—अच्छा यह बताओ कि तुमने नगर के बाजारों में क्या-क्या देखा ?

सुनार—मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

भरत—सब बाजारों में घूमकर आ रहे हो, फिर भी तुमने कुछ नहीं देखा ?

सुनार—हाँ महाराज ! मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

भरत—क्यों ?

सुनार—देखता कैसे ? मेरी दृष्टि तो इस कटोरे पर थी। मुझे भय था कि कहीं तेल न गिर जावे, नहीं तो साथ का सिपाही मेरी गर्दन उड़ा देगा। इस भय के कारण मेरी दृष्टि कटोरे पर ही रही। बाजार में क्या होता है या क्या है, इस ओर मैंने ध्यान भी नहीं दिया।

भरत—बस यही बात मेरे लिए समझो। यह समस्त ऋद्धि सम्पदा, जिसे तुम मेरी समझ रहे हो—एक बाजार के समान है। मैं इस बाजार में विचरता हूँ, फिर भी मैं इसको अपनी नहीं मानता, न इसकी ओर ध्यान ही देता हूँ। जिस तरह तुमको सिपाही द्वारा गर्दन उड़ाये जाने का भय था, इसलिए तुम्हारा ध्यान कटोरे पर ही था, बाजार की ओर तुमने नहीं देखा, उसी प्रकार मुझे भी परलोक का भय लगा हुआ है। इसलिए मैं भी ऋद्धि-सम्पदा में रचा-पचा नहीं रहता हूँ, ऋद्धि-सम्पदा की ओर ध्यान नहीं देता हूँ किन्तु जिस तरह तुम्हारा ध्यान कटोरे पर था, उसी प्रकार मेरा ध्यान मोक्ष की ओर है। इस कारण मैं चक्रवर्ती होता हुआ भी भगवान के कथनानुसार तुमसे पहले मोक्ष जाऊँगा। इसके विरुद्ध तुम्हारे पास ऐसी सम्पत्ति नहीं है, लेकिन तुम्हारी लालसा बढ़ी हुई है। जिसकी लालसा बढ़ी हुई है, वह महारम्भी, महापरिग्रही है, फिर चाहे उसके पास कुछ हो अथवा न हो या बहुत थोड़ा हो। इसके विपरीत जिसके पास बहुत सम्पत्ति है, फिर भी यदि वह उस सम्पत्ति में मूर्छित नहीं रहता है, उसकी लालसा बढ़ी हुई नहीं है, किन्तु सांसारिक पदार्थों में रहता हुआ भी जल में कमल

की तरह उनसे अलग रहता है, तो वह अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही है। इसीलिए भगवान ने तुम्हारे लिए मोक्ष न बताकर, पहले मेरे लिए मोक्ष बताया।

भरत चक्रवर्ती के इस कथन से सुनार समझ गया। उसने जाकर भगवान से क्षमा माँगी और इस प्रकार वह पवित्र हुआ।

मतलब यह कि मोक्ष प्राप्ति अप्राप्ति का कारण सांसारिक पदार्थों का पास होना, न होना नहीं है, किन्तु ममत्व का होना, न होना ही मोक्ष प्राप्त न होने या होने का कारण है। इसलिए चाहे परिग्रह का सर्वथा त्याग न हो, केवल इच्छापरिमाण व्रत ही लिया गया हो, फिर भी यदि शेष परिग्रह से जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, तो वह उसी भव से मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। इसके विरुद्ध चाहे अपरिग्रह व्रत स्वीकार भी किया हो, लेकिन इच्छा-मूर्छा बढ़ी हुई हो, इच्छा-मूर्छा न मिटी हो, तो वह संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण करता है और नरक तिर्यक् गति में भी जाता है।

४१ : दिशा-पूजन

राजगृही के वेणुवन में सिणगाल नामक एक सद्गृहस्थ रहता था। उसने अपने पुत्र को शिक्षा दी कि यदि तुम कुलधर्म की रक्षा करना चाहो तो छह दिशाओं की पूजा करते रहना।

पुत्र पितृभक्त था। वह पिता की बात का मर्म तो समझा नहीं, मगर दिशाओं की पूजा करने लगा। वह चारों दिशाओं में तथा ऊपर और नीचे फूल और पानी उछाल देता और समझता कि मैंने कुलधर्म का पालन किया।

एक बार उसे कोई महात्मा मिले। उन्होंने फूल और पानी उछालते देखकर पूछा—यह क्या करता है? तब उसने कहा—मैं पिता के आदेशानुसार छह दिशाओं की पूजा करता हूँ।

महात्मा बोले—तुझे दिशाओं की पूजा करना नहीं आता। जो पूजा तू कर रहा है, वह उन्नति का साधन नहीं है।

लड़का सरलहृदय था। उसने कहा—मैं नहीं समझा। आप समझा दीजिये। जैसा आप कहेंगे, वैसा मैं करूँगा।

महात्मा बोले—पहले तू छह दिशाओं को समझ ले। माता पिता और धर्मगुरु पूर्व दिशा हैं। विद्यागुरु दक्षिण दिशा हैं। स्त्री पश्चिम दिशा है। सगे सम्बन्धी उत्तर दिशा हैं। ऊर्ध्व दिशा सन्त महात्मा हैं और अपने से नीचे नौकर चाकर आदि अधोदिशा हैं। इनकी पूजा करना ही छह दिशाओं की पूजा करना कहलाता है। थोड़े शब्दों में इस व्याख्या को याद रखे तो तेरा इस लोक और परलोक में कल्याण होगा।

माता-पिता पूर्व दिशा हैं और इनकी पूजा पाँच प्रकार की है; क्योंकि माता-पिता पुत्र पर पाँच प्रकार का अनुग्रह करते हैं। इनकी पूजा का अर्थ है—इनकी सेवा-शुश्रुषा करना, मान-सन्मान करना और कुलधर्म का पालन करते हुए मर्यादा में चलना। दो भाई हों तो उनके हिस्से की सम्पत्ति आप ही न हड़प जाना, उनका हिस्सा उन्हें देना। वहिन सुसराल चली गई हो तो उसके लिए भी कुछ भाग लगा देना।

सचमुच कुलीन पुत्र वही कहलाता है जो पिता की सम्पत्ति को मौज मजा-मौजा में नहीं उड़ा देता, किन्तु ऐसी व्यवस्था करता है जिससे धर्म की भी रक्षा हो। ऐसा पुत्र पिता का आशीर्वाद प्राप्त करता है। पिता का आशीर्वाद पिता के धर्म का पालन करने से ही मिलता है। पिता, पुत्र का पालन-पोषण करता है, शिक्षित बनाता है, विवाह-शादी करके ऐसी व्यवस्था करता है कि जिससे पुत्र बाद में भी सुखी रह सके। अतएव पिता की पूजा न करना अनुचित है। मगर पूजा का अर्थ यह नहीं कि उसके सामने धूप जला दी जाय और फूल चढ़ा दिये जाएँ। पिता के प्रति सदैव आदर का भाव रखना और कभी उनकी अवज्ञा न करना, पिता की सच्ची पूजा है।

दक्षिण दिशा विद्यागुरु हैं। विद्यागुरु का भी बड़ा उपकार है। वह एक तरह से पशु से मनुष्य बनाते हैं। हृदय में विद्या की ज्योति जगाते हैं। अतएव विद्यागुरु का सन्मान-सत्कार करना, उनको अन्न-वस्त्र आदि देना, शक्ति के अनुसार धन से उनकी सहायता करना, उनकी सच्ची पूजा है। स्त्री पश्चिम दिशा है। स्त्री की पूजा का अर्थ यह नहीं कि उसके पैरों में मस्तक रगड़ा जाय या उसे हाथ जोड़े जाएं। स्त्री का सन्मान करना, कभी अपमान न करना ही स्त्री की पूजा है। मनु ने कहा है:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।

४१ : दिशा-पूजन

राजगृही के बेणुवन में सिणगाल नामक एक सद्गृहस्थ रहता था। उसने अपने पुत्र को शिक्षा दी कि यदि तुम कुलधर्म की रक्षा करना चाहो तो छह दिशाओं की पूजा करते रहना।

पुत्र पितृभक्त था। वह पिता की बात का मर्म तो समझ नहीं, मगर दिशाओं की पूजा करने लगा। वह चारों दिशाओं तथा ऊपर और नीचे फूल और पानी उछाल देता और समझता कि मैंने कुलधर्म का पालन किया।

एक बार उसे कोई महात्मा मिले। उन्होंने फूल और पानी उछालते देखकर पूछा—यह क्या करता है? तब उसने कहा—मैं पिता के आदेशानुसार छह दिशाओं की पूजा करता हूँ।

महात्मा बोले—तुझे दिशाओं की पूजा करना नहीं आता जो पूजा तू कर रहा है, वह उन्नति का साधन नहीं है।

लड़का सरलहृदय था। उसने कहा—मैं नहीं समझा तो आप समझा दीजिये। जैसा आप कहेंगे, वैसा मैं करूँगा।

महात्मा बोले—पहले तू छह दिशाओं को समझ ले। माता पिता और धर्मगुरु पूर्व दिशा हैं। विद्यागुरु दक्षिण दिशा हैं। स्त्री पश्चिम दिशा है। सगे सम्बन्धी उत्तर दिशा हैं। ऊर्ध्व दिशा सन्त महात्मा हैं और अपने से नीचे नौकर चाकर आदि अधोदिशा हैं। इनकी पूजा करना ही छह दिशाओं की पूजा करना कहलाता है।

थोड़े शब्दों में इस व्याख्या को याद रखे तो तेरा इस लोक और परलोक में कल्याण होगा।

माता-पिता पूर्व दिशा हैं और इनकी पूजा पाँच प्रकार की है; क्योंकि माता-पिता पुत्र पर पाँच प्रकार का अनुग्रह करते हैं। इनकी पूजा का अर्थ है—इनकी सेवा-शुश्रुषा करना, मान-सन्मान करना और कुलधर्म का पालन करते हुए मर्यादा में चलना। दो भाई हों तो उनके हिस्से की सम्पत्ति आप ही न हड़प जाना, उनका हिस्सा उन्हें देना। बहिन सुसराल चली गई हो तो उसके लिए भी कुछ भाग लगा देना।

सचमुच कुलीन पुत्र वही कहलाता है जो पिता की सम्पत्ति को मौज मजा-मौजा में नहीं उड़ा देता, किन्तु ऐसी व्यवस्था करता है जिससे धर्म की भी रक्षा हो। ऐसा पुत्र पिता का आशीर्वाद प्राप्त करता है। पिता का आशीर्वाद पिता के धर्म का पालन करने से ही मिलता है। पिता, पुत्र का पालन-पोषण करता है, शिक्षित बनाता है, विवाह-शादी करके ऐसी व्यवस्था करता है कि जिससे पुत्र बाद में भी सुखी रह सके। अतएव पिता की पूजा न करना अनुचित है। मगर पूजा का अर्थ यह नहीं कि उसके सामने धूप जला दी जाय और फूल चढ़ा दिये जाएँ। पिता के प्रति सदैव आदर का भाव रखना और कभी उनकी अवज्ञा न करना, पिता की सच्ची पूजा है।

दक्षिण दिशा विद्यागुरु हैं। विद्यागुरु का भी बड़ा उपकार है। वह एक तरह से पशु से मनुष्य बनाते हैं। हृदय में विद्या की ज्योति जगाते हैं। अतएव विद्यागुरु का सन्मान-सत्कार करना, उनको अन्न-वस्त्र आदि देना, शक्ति के अनुसार धन से उनकी सहायता करना, उनकी सच्ची पूजा है। स्त्री पश्चिम दिशा है। स्त्री की पूजा का अर्थ यह नहीं कि उसके पैरों में मस्तक रगड़ा जाय या उसे हाथ जोड़े जाएँ। स्त्री का सन्मान करना, कभी अपमान न करना ही स्त्री की पूजा है। मनु ने कहा है:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।

जहाँ नारी का सन्मान किया जाता है, अपमान नहीं किया जाता है, वह स्थान देवलोक बन जाता है। शास्त्र में स्त्री को देवानुप्रिया, धर्मशीला, धर्मसहायिका कहकर संबोधन किया गया है। जो धर्म की सहायिका है, उसका अपमान करना कहाँ तक उचित है? स्त्री का अपमान करना मानव-जाति की महत्ता का अपमान करना है। अतएव अपनी पत्नी का कदापि अपमान न करे। उसकी सुख-सुविधा की चिन्ता रखना स्त्री-पूजा है।

जो लोग अपनी पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार करते हैं, उन्हें उसका बदला पत्नी की ओर से मिलता है। आप कठोर रहेंगे तो क्या आपकी छाया कठोर नहीं रहेगी? फिर स्वयं कड़े बने रहकर संसार को कोमल कैसे बना सकते हो? आप स्त्री का सन्मान करेंगे तो वह आपकी गृहस्थी का उत्तम प्रबन्ध करेगी।

सगे-सम्बन्धी उत्तर दिशा हैं। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने सम्बन्धी और स्नेही जनों पर समभाव रखता हुआ उनके सुख दुःख में सम्मिलित रहे, उन्हें आपत्ति से बचावे। यही उनकी पूजा है। अपने कुटुम्बी जनों को बोझ न समझे। उनकी पूरी तरह सार सम्भाल करे। उन्हें अपने ही समान समझे। ऐसा होने पर वे प्राणों को संकट में डालकर भी तुम्हारी सहायता करेंगे। कुटुम्बियों और सगे-सम्बन्धियों को अपनाये रहने से समय पर उनसे बड़ी सहायता मिलती है।

प्राचीनकाल के समधी (व्याई) यह समझते थे कि हमने अपनी पुत्री देकर पुत्र लिया है और पुत्री लेकर पुत्र दिया है। दोनों, दोनों घर की जिम्मेदारी समझते थे। ऐसी भावना थी तो आनन्द रहता था। मगर आज वह आनन्द कहाँ नजर आता है? लड़की वालों ने अच्छी पहरावणी दे दी, तब तो गनीमत है, नहीं तो लड़के वाला उल्टा वैरी बन जाता है।

नीची दिशा नौकर-चाकर आदि हैं। लोग उन्हें हल्की और

अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं, मगर इन लोगों की सेवा पर ही बड़े कहलाने वालों की जिन्दगी निर्भर है।

पहला नौकर भंगी है। कठोर-से-कठोर सेवा भंगी करता है। गन्दगी को आप फैलाते हैं और उसे साफ करता है भंगी। प्रकृति से वह भी आपके समान ही है। उसके कुल में भी हरिकेशी जैसे महान् पुरुषों ने जन्म लिया है। वह भी आपकी ही तरह धर्म का अधिकारी है।

दूसरे नौकर-चाकर भी आपको सुख पहुँचाते हैं। स्वयं कष्ट हते हैं, मगर आपको कष्ट से बचाते हैं। अतएव उन पर भी स्नेह-ष्टि होनी चाहिए। इस प्रकार महत्तर, पानी वाला, रसोई वाला ादि कोई भी नौकर क्यों न हो, उसका उचित सन्मान करना ावोदिशा की पूजा करना है। स्मरण रखना चाहिए की नौकर-चाकर ादि जो नीचे समझे जाते हैं, उन्हीं पर तुम्हारी ऊँचाई टिकी है। ाकाश से बातें करने वाला महल पृथ्वी के सहारे ही खड़ा होता ़। आप नौकर के सुख-दुःख का विचार करेंगे तो वे आपका काम भी ज्यादा करेंगे और आपको अधिक प्रसन्न और सुखी रखने की चेष्टा करेंगे। आपका काम करता-करता कोई नौकर बीमार हो जाए और आप उसकी सार-सँभार न करें और ऊपर से वेतन काट लें तो यह बेवफाई है। मालिक वफादार रहेगा तो नौकर भी वफादार रहेगा।

छठी ऊर्ध्व दिशा है। यह दिशा मनुष्य को ऊँचा उठाने वाली है। श्रमण, निर्ग्रन्थ, साधु, संन्यासी आदि किसी भी शब्द से कहो, परन्तु जिन्होंने संसार त्याग दिया है, मोह-ममता का परित्याग कर दिया है, उनकी सेवा-पूजा करना ऊर्ध्व दिशा की पूजा है। उनकी पूजा का अर्थ यह है कि उनको यथोचित नमस्कार-वन्दन करना, उन पर श्रद्धा रखना और जब वे भिक्षा के लिए आवें तो भोजन-पानी आदि धर्म-सहायक वस्तुएँ देकर उनका सहायक बनना।

इस प्रकार गृहस्थों का आदर-सन्मान लेने वाले साधु का धर्म क्या है ? साधु पर उत्तरदायित्व है कि वह अपने भक्तों को सच्चा कल्याण का मार्ग दिखलावे। उन्हें किसी प्रकार का सन्देह हो तो शास्त्र के अनुसार उसका निवारण करे। ऐसा न हो कि—

दस बोगे दस बोगले, दस बोगे के बच्चे।
गुरुजी बैठे गप्पें मारें, चेले जानें सच्चे॥

शिष्यों को आत्मा, परमात्मा, नीति, धर्म, संसार, मोक्ष, गृहस्थ-धर्म आदि का स्वरूप समझाना धर्मगुरु का कर्तव्य है।

यह छह दिशाएँ हैं। इनकी यथाविधि पूजा करते रहने से कोई बेपरवाह नहीं होगा और सब अपने-अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहेंगे। पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक आदि सबका कुलधर्म अक्षत रहेगा।

४२ : ज्ञान और क्रिया

उदयसेन नामक एक राजा था। उसके दो पुत्र थे वीरसेन और सूरसेन। वीरसेन सब इन्द्रियों से परिपूर्ण था और सूरसेन अन्धा था।

विवेकवान पुरुष, जो जिस काम के योग्य होता है उसे वही काम सौंपते हैं। तदनुसार उदयसेन ने अपने दोनों पुत्रों को अलग-अलग प्रकार की शिक्षा दी। अंधे मनुष्य प्रायः संगीत कला में निपुण होते हैं। भक्त कवि सूरदास के विषय में कहा जाता है कि वे अंधकवि थे। उदयसेन ने सूरसेन को गायन-कला सिखलाई और वीरसेन को क्षत्रियोचित युद्धकला सिखलाई।

सूरसेन ने जब सुना कि वीरसेन को तो युद्धकला सिखलाई जा रही है और मुझे वह कला नहीं सिखलाई जा रही है। तो वह विचार करने लगा—मैं कायर ही रह जाऊँगा! फिर क्षत्रिय कुल में जन्म लेने से मुझे क्या लाभ हुआ?

इस प्रकार विचार करके वह अपने पिता के पास पहुँचा और कहने लगा—पिताजी! मैं भी यह युद्ध-कला सीखना चाहता हूँ। पिता ने विचार किया कि जब इसका हृदय युद्धकला की ओर प्रेरित हुआ है तो सिखलाने में क्या हर्ज है? बालक की मनोवृत्तियों को, नैसर्गिक प्रेरणाओं को दबा रखना उचित नहीं है। इस प्रकार विचार कर उदयसेन ने युद्धकला सिखलाने वाले के सुपुर्द कर दिया। युद्धकला सिखलाने वाला योग्य और होशियार था। अतएव उसने सूरसेन को बाणविद्या सिखला दी। मगर सूरसेन

अन्धा था, अतः वह केवल शब्द के आधार पर ही बाण मार सकता था।

धीरे-धीरे दोनों कुमार योग्य हो गए। कुछ दिनों बाद युद्ध करने का अवसर आ पहुँचा। तब वीरसेन ने अपने पिता से कहा—पिताजी ! आपने हमें योग्य बनाया है और हम योग्य बन भी गए हैं, ऐसी स्थिति में आपका युद्ध में जाना उचित प्रतीत नहीं होता। इस बार आप हमें ही युद्ध में जाने की आज्ञा दीजिए।

वीरसेन की वीरोचित बात सुनकर पिता को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने सोचा—ऐसे अवसर पर पुत्र को घर में रखना उचि नहीं है। मेरे सामने युद्ध कर लेने से इसका साहस भी बढ़ जायग और मेरे दिल में भी पुत्र के विषय में कोई खटका नहीं र जायगा। यह सोचकर उदयसेन ने वीरसेन को युद्ध में जाने स्वीकृति दे दी।

इसके बाद सूरसेन भी पिता के पास गया और उसने युद्ध में जाने की आज्ञा माँगी। पिता ने उसे समझाया—बेटा, आँखों से हीन है। तेरा युद्ध में जाना उचित नहीं है। तू यहीं र और अपने भाई की विजयकामना कर।

सूरसेन मन-ही-मन सोचने लगा—मेरा भाई युद्ध में जायग तो उसकी प्रशंसा होगी और मुझे कोई टके सेर भी नहीं पूछेगा। इस प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर उसने युद्ध में जाने के लिए राजा से अनुरोध किया। उसके अनुरोध को टाल न सकने के कारण राजा ने उसे भी जाने की आज्ञा दी।

सूरसेन युद्ध में गया। अन्धा होने के कारण वह देख तो कुछ सकता नहीं था, जब शब्द सुनता तो बाण चला देता और जब शब्द न सुन पाता तब बाण भी नहीं चला पाता था। आखिर शत्रु समझ गए कि यह अन्धा है, शब्द सुने बिना वह बाण नहीं चला सकता। इस तरह समझ लेने पर शत्रुओं ने चुपचाप रहकर

उसे पकड़ लेने की योजना बना ली और बिना शब्द किये उसके पास जाकर उसे पकड़ भी लिया ।

इधर वीरसेन को पता चला कि मेरा भाई सूरसेन शत्रुओं द्वारा पकड़ लिया गया है । इससे वीरसेन का क्रोध और भड़क उठा । उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर युद्ध किया और अन्त में सूरसेन को छुड़ा लाया । जब सूरसेन लौटकर पिता के पास आया तो पिता ने प्यार के साथ उससे कहा—बेटा, मैं समझ गया कि तू वीर है । फिर भी तू वीरसेन की बराबरी नहीं कर सकता ।

सूरसेन ने भी अपनी स्थिति समझ ली । उसने कहा—ठीक है, पराक्रम होने पर भी नेत्रों के अभाव में वीरसेन की बराबरी नहीं की जा सकती । अगर वीरसेन न आये होते तो मैं शत्रुओं के हाथों में पड़ ही चुका था ।

पिता ने कहा—अच्छा ही हुआ । यह उदाहरण ज्ञानियों के काम आएगा ।

इसी प्रकार जिनको ज्ञान-नेत्र प्राप्त नहीं हैं, वे त्याग भी करें, धन और भोगों से विरक्त भी रहें, तब भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते । अतएव क्रिया को ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता होती है ।

और इसी तरह ज्ञान को भी क्रिया की आवश्यकता है । वीरसेन नेत्रवान होते हुए भी अगर पराक्रम न करता और टुकुर-टुकुर देखा करता तो क्या उसे सफलता प्राप्त हो सकती थी ? नहीं । सिद्धि ज्ञान और क्रिया—दोनों के सहयोग से ही प्राप्त होती है ।

४३ : मर्त्यलोक-स्वर्गलोक

कहते हैं—एक बार इन्द्र ने गोपियों की भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें स्वर्ग में लाने के लिए विमान भेजा। इन्द्र ने कहलाया—तुमने नन्दलाल की बड़ी भक्ति की है, इसलिए चलो। तुम्हे स्वर्ग में रखा जायगा। इसके उत्तर में गोपियों ने भक्तों की वाणी में कहा:—

व्रज व्हालु' म्हारे वैकुण्ठ नथी जावु'।
त्यां नन्द नो लाल क्यांथी लावु'॥ व्रज०॥

गोपियाँ बोलीं—हमारे सामने स्वर्ग की बात मत कहो। हमें तो व्रज ही प्रिय है। स्वर्ग में नन्दलाल को कैसे पायेंगे?

विमान लाने वाले देवों ने कहा—क्या तुम सब पागल हो गईं? विचार तो करो, कहाँ व्रज और कहाँ स्वर्ग? दुष्काल पड़े तो यहाँ तिनका भी न मिले! यहाँ सिंह, बाघ आदि का भय अलग ही बना रहता है! फिर नाना प्रकार के रोग यहाँ सताते हैं और मृत्यु सिर पर नाचती रहती है। स्वर्ग में किसी प्रकार का भय नहीं है, सब तरह का आनन्द-ही-आनन्द है। वहाँ रत्नों के महल हैं और इच्छा होते ही अमृतरस से पेट भर जाता है। किसी प्रकार का परिश्रम नहीं करना पड़ता और सब तरह के सुख मौजूद हैं। फिर स्वर्ग छोड़कर व्रज में रहना क्यों पसन्द करती हो?

गोपियों ने उत्तर दिया—हम पागल नहीं हैं, पागल हुए हो तो तुम! यह तो बताओ कि तुम विमान लेकर हमें ले जाने को क्यों आये हो? हमने नन्दलाल की भक्ति की है, इसीलिए तो तुम

आये हो न ? अब तुम्हीं सोचो कि जिस भक्ति के कारण तुम हमें स्वर्ग में ले जाने को आये हो वह भक्ति बड़ी या स्वर्ग बड़ा ? अगर भक्ति बड़ी है तो फिर भक्ति छोड़कर स्वर्ग में क्यों आएं ? हमें अपनी भक्ति बेचना पसन्द नहीं है ।

गोपियों का उत्तर सुनकर देव चुप रह गये । बोले—तुम भाग्यशालिनी हो । वास्तव में हमारा स्वर्ग तुम्हारे ब्रज के सामने किसी बिसात में नहीं है । तुम्हारी भक्ति और श्रद्धा धन्य है । हमारा शरीर रूप-रंग में सुन्दर है, पर किस काम का ? इस शरीर से तुम्हारी जैसी भक्ति नहीं हो सकती ।

मित्रो ! स्वर्ग के सुखों का वर्णन सुनकर ललचाओ मत । स्वर्ग की खेती मर्त्यलोक में ही होती है । धर्मसाधना के लिए यही लोक उपयुक्त है । धर्म-साधना की दृष्टि से मनुष्य, देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ है । मुसलमानों के हदीसों में कहा है—

जब अल्लाह दुनिया को बना चुके तो उन्होंने फरिस्तों को बुला-र कहा—तुम इन्सान की बन्दगी करो । अल्लाह का हुक्म भला ो टाला जा सकता था ? दूसरे फरिश्तों ने तो बंदगी कर ली मगर क फरिश्ते ने अल्लाह का हुक्म नहीं माना । उसने कहा—आप ऐसा म क्यों फरमाते हैं ? कहाँ हम फरिश्ता और कहाँ इन्सान ! हम रिश्ता होकर इन्सान की बंदगी क्यों करें ? हम पाक हैं, इन्सान पाक है ।

इस फरिश्ते की बात सुनकर अल्लाह मियाँ ने उसे खूब फट-ारा । तब कहीं उसकी अक्ल ठिकाने आई !

देवगण, उसके पैरों में अपना मस्तक झुकाते हैं, जिसके हृदय निरन्तर धर्म का वास होता है ।

देवा वि तं नमंस्संति,
जस्स धम्मे सया मणो ।

४४ : दान की सफलता—मीठी बोली

पूज्य श्रीलालजी महाराज कहा करते थे—यदि दान देने वाला प्रियवादी न हो, प्रिय वचन बोलकर दान न दे किन्तु अप्रिय वचन बोलकर दान दे तो उसका दान देना मिथ्या हो जाता है। इस सम्बन्ध में वे एक दृष्टान्त दिया करते थे। वह इस प्रकार है:—

कृष्णजी ने एक बार व्यापक रूप से दान देने का विचार किया। जब विचार किया तो उसे अमल में लाने में क्या देर हो सकती थी? तुरन्त दानशाला खुलवाई और दान देना प्रारम्भ कर दिया। दान देने का कार्य उन्होंने अर्जुन को सौंपा। अर्जुन की देखरेख में दान का कार्य चलने लगा। जो भी ऋषि, ब्राह्मण और भिक्षुक आदि आते, सभी को दान दिया जाता। महाराज श्रीकृष्ण की दानशाला की प्रशंसा दूर-दूर तक फैल गई और बहुत से ऋषि, ब्राह्मण तथा भिक्षुक आ-आकर दान लेने लगे। धीरे-धीरे दान लेने वालों की संख्या इतनी बढ़ गई कि अर्जुन देते-देते थक जाता और परेशान हो जाता।

एक दिन अर्जुन ने विचार किया—इस देश में कितने मँगते हो गये हैं! दिन भर तांता लगा रहता है और मुझे घड़ी भर भी चैन नहीं मिल पाता और उसी दिन से अर्जुन की बोली बदल गई। अब तक वह बड़ी मिठास के साथ, आदरभाव से दान दिया करता था, किन्तु अब वह दान लेने वालों से कटुक शब्द कहने लगा। अर्जुन का यह व्यवहार देखकर जो ऋषि या ब्राह्मण आदि आदर के साथ दान लेने वाले थे, उन्होंने आना बन्द कर दिया। केवल वही लोग आते रहे जो आदर-अनादर का कुछ भी विचार न करके दान लेते थे।

कृष्णजी को इस बात का पता चला कि मेरी दानशाला में सम्माननीय ऋषि आदि नहीं आते हैं। पता लगाने पर उन्हें यह भी मालूम हुआ कि अर्जुन उन्हें कटु शब्द कहते थे, इस कारण उन्होंने आना छोड़ दिया है। श्रीकृष्ण ने विचार किया—अर्जुन मेरा सखा होकर भी नहीं समझा ! उसे समझाना उचित है।

एक दिन कृष्णजी अर्जुन को साथ लेकर वन के दृश्य देखने के बहाने वन में गए। चलते-चलते वे किसी पर्वत के पास जा पहुंचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपनी चाल इतनी तेज कर दी कि अर्जुन उनके बराबर न चल सका। अर्जुन ने बहुत चेष्टा की कि मैं कृष्णजी के साथ चलता रहूँ, मगर वह योगेश्वर कृष्ण की बराबरी कब कर सकता था? अर्जुन हाँफने लगा। उसके देखते-ही-देखते कृष्णजी इतनी दूर निकल गये कि नजर ही न आने लगे। कृष्णजी जाकर पर्वत की एक गुफा में बैठ गए।

पर्वत पर पहुँच अर्जुन कृष्णजी को खोजने लगा। उसे कृष्णजी तो मिले नहीं, एक गुफा में एक ऋषि विराजमान नजर आए। ऋषि की आकृति अद्भुत थी। उनका सारा शरीर तो सोने का था किन्तु मुख सुअर का था। अर्जुन को यह देखकर बड़ा आश्चर्य और कुतूहल हुआ। अर्जुन ने उनके पास जाकर प्रश्न किया—आप कौन हैं? यहाँ क्यों तपस्या कर रहे हैं? आपका सारा शरीर सोने का और मुख सुअर का क्यों है? आपत्ति न हो तो कृपा करके मेरा कुतूहल दूर कीजिए।

अर्जन के प्रश्न सुनकर ऋषि हँसे और कहने लगे—मेरा खयाल था कि मेरी आकृति ही तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे देगी। वह उत्तर दे तो रही है, मगर तुम उसे समझे नहीं। इसलिए वचन कहकर समझाता हूँ। सुनो—

मैंने दान देने में कुछ भी कसर नहीं रखी थी। मैं याचकों को इच्छानुसार दान दिया करता था। उस दान के फल से मेरा शरीर

कञ्चन का हुआ। किन्तु मैंने मधुर वचन नहीं दिये, वल्कि दान लेने वालों को कटुक और अप्रिय शब्द कहे। फल तो इसका भी होना चाहिए न? इसके फलस्वरूप मेरा मुख सुअर का हो गया। मैं अ इस विषम स्थिति का निवारण करने के लिए तप कर रहा हूँ। समझ गये?

ऋषि की बात सुनकर अर्जुन समझ गया—यह ऋषि अ कोई नहीं, श्रीकृष्णजी ही हैं। यही ऋषि बनकर बैठे हैं।

अर्जुन ने पैरों में पड़कर कहा—दयानिधान, अब प्रकट होओ। दान आपने दिया है, मैंने तो कुछ दिया नहीं; अलबत्ता कटुक वचन मैंने कहे हैं। ऐसी स्थिति में क्या मेरा सारा ही शरीर सुअर का होगा?

अर्जुन की बात सुनकर कृष्णजी हँस पड़े। उन्होंने पूछा—अ समझ तो गये हो न?

अर्जुन ने कहा—आप जैसे समझाने वाले हों तो कौन नहीं समझेगा?

शास्त्रों में दानधर्म का बड़ा वर्णन है। जहाँ दान दे वर्णन आता है वहाँ 'सक्कारित्ता' 'सम्माणित्ता' पद भी आते हैं। सत्कार करके और सन्मान करके दान दिया जाना चाहिए। द पाँच भूषण हैं। पहला भूषण है हर्ष होना। दान का सुअवसर मि पर दाता को ऐसा हर्ष हो कि हर्षाश्रु निकल पड़ें। दूसरा भूषण रोमा होना है। दाता का आनन्द से रोम-रोम विकसित हो जाना चाहिए तीसरा भूषण बहुमान है। पात्र को बहुमान के साथ दान देना चाहिए चौथा भूषण नम्र और प्रिय वचन हैं। पाँचवाँ भूषण है—पात्र क शंसा करना और अपने दान को तुच्छ दिखलाना।

जैसे आभूषणों से शरीर की शोभा अधिक बढ़ जाती है, उसी ार इन पाँच भूषणों से दान की शोभा बढ़ जाती है।

समुद्र का कथन सुनकर वेत्रवती नदी ने कहा—इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। जब मैं जोश के साथ दौड़कर आती हूँ, तब सारे बेंत के झाड़ नीचे झुककर पृथ्वी के साथ लग जाते हैं और जब मेरा पूर उतर जाता है तो फिर ज्यों-के-त्यों सिर उठाकर खड़े हो जाते हैं। इस कारण मैं एक भी बेंत नहीं तोड़ पाती। अब आप ही बतलाइए कि इसमें मेरा क्या अपराध है?

समुद्र ने कहा—ठीक है, मैं यह बात जानता हूँ। मगर मेरे साथ तेरा जो संवाद हुआ है, वह दूसरे लोगों के लिए हितकारी सिद्ध होगा।

यह संवाद सुनाकर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—युधिष्ठिर अपने से अधिक बलवान शत्रु का सामना करना पड़े तो क्या करना चाहिए, इस विषय में बेंत से शिक्षा लो। प्रबल शत्रु के सामने झुक जाना ही उचित है। बेंत नदी के पूर के सामने झुक जाता है और अपनी जड़ नहीं उखड़ने देता और जब पूर उतर जाता है तो फिर सीधा खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार अपनी जड़ मजबूत रखकर प्रबल शत्रु के सामने झुक जाना उचित है। जो बहुत सपाटे के साथ आता है वह बहुत देर तक नहीं ठहर सकता।

भीष्म ने फिर कहा—युधिष्ठिर, तुम अजातशत्रु हो। तुम्हें अपने जीवन में ऐसा अवसर देखना ही नहीं पड़ेगा, लेकिन यह शिक्षा भविष्य में दूसरों के काम आएगी।

४६ : एकाग्र ध्यान

द्रोणाचार्य ने कौरवों और पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखाई थी। एक दिन वे अपनी शिष्यों की परीक्षा लेने लगे। उन्होंने एक कड़ाह तेल भरवाया और अपने सब शिष्यों को एकत्र किया। उस तेल कड़ाह में एक खम्भा खड़ा किया गया और खम्भे पर चन्दा वाला र का पंख लगा दिया गया।

इतना सब कुछ करने के पश्चात् आचार्य ने घोषणा की—ल भरे कड़ाव में प्रतिबिम्बित होने वाले मोर के पंख को देखकर जो क्ष्य पंख के चन्दा को वाण से भेद देगा, उसीने मेरी पूर्ण शिक्षा हण की है। वही परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ समझा जायगा।

दुर्योधन को अभिमान था। वह सब से पहले चन्दा भेदने के लिए आगे आया। उसने वाण चढ़ाया। इसी समय द्रोणाचार्य ने पूछा—तुम्हें कड़ाह के तेल में क्या दिखाई देता है?

दुर्योधन ने कहा—मुझे सभी कुछ दिखाई दे रहा है। खम्भा, मोर-पंख, मैं, आप और मेरे आसपास खड़े हुए, मेरी हँसी करते हुए यह सब दिखाई दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त मैं उस चन्दा को भी देख रहा हूँ, जो मेरे वाण का लक्ष्य है।

दुर्योधन का उत्तर सुनकर द्रोण ने कहा—चल, रहने दे। तू परीक्षा में सफल न होगा। पहले तू अपना विकार दूर कर।

मगर अभिमानी दुर्योधन नहीं माना। उसने हर्ष के साथ, मोर-पंख के चन्दे को, तेल-भरे कड़ाह में देखते हुए वाण मारा। किन्तु वह लक्ष्य को भेद न सका। इसी प्रकार एक-एक करके सभी कौरव

इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहे ।

कौरवों के पश्चात् पांडवों की वारी आई । युधिष्ठिर आदि चारों पांडवों ने अर्जुन को कहा—हम सबकी तरफ से अकेले अर्जुन ही परीक्षा देंगे । अगर अर्जुन इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए तो हम सभी उत्तीर्ण हैं । अगर अर्जुन उत्तीर्ण न हो सके तो हम लोग भी अनुत्तीर्ण ही हैं ।

आचार्य द्रोण पांडवों की बात सुनकर प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा—परीक्षा में इन्हें उत्तीर्णता मिले या न मिले, मगर इन पाँचों ऐक्य प्रशंसनीय है

आखिर अर्जुन कड़ाह के पास आया । द्रोणाचार्य ने स्नेह गद्गद होकर कहा—मेरी शिक्षा की इज्जत तेरे साथ है ।

अर्जुन ने विनम्रता प्रकट करते हुए कहा— गुरुदेव, अगर सच्चे अन्तःकरण से आपकी सेवा की होगी, आपका स्नेह सम्पा किया होगा, तो आपकी कृपा से मैं उत्तीर्ण होऊँगा ।

इस प्रकार अर्जुन ने तेल के कड़ाह में मोरपंख देखते वाण साधा । द्रोणाचार्य ने पूछा— तुम्हें कड़ाह में क्या दीख पड़ता है

अर्जुन बोला— मुझे मोरपंख का चन्दा और अपने वाण नोंक ही दिखाई दे रही है । इसके सिवाय और कुछ भी न नहीं आता ।

आचार्य ने कहा— तेरी तरफ से मुझे आशा वँधी है । वाण चला

गुरु की आज्ञा पाकर अर्जुन ने वाण लगाया । वाण लक्ष्य लगा और मोरपंख का चन्दा भिद गया ।

इसी विद्या के प्रताप से अर्जुन ने पांचाली के स्वयंवर में रा वेध साधा था और पाँचाली (द्रौपदी) प्राप्त की थी ।

चन्दा वेध देने से पांडवों को तो प्रसन्नता हुई ही, साथ द्रोणाचार्य भी वहुत प्रसन्न हुए । अपने शिष्य की विशिष्ट सफल से कौन गुरु प्रसन्न नहीं होता ?

४७ : विराट शक्ति

संसार में रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण की प्रकृति रहती है। तमोगुण की वृद्धि होने पर रजोगुण और सतोगुण जाता है और आत्मा महाशक्ति की उपेक्षा करके गड़बड़ में पड़ है। द्रौपदी के आख्यान से यह बात आपकी समझ में अच्छी आ जायगी।

पाण्डवों के राजदूत बनकर जब श्रीकृष्ण कौरवों के पास करने के लिए जाने लगे, तब द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—मैं जानती थी कि पुरुष इतने मानहीन, बुद्धिहीन और सत्वहीन हैं। लोग स्त्रियों को कायर बतलाते हैं, मगर पुरुषों की कलई रही है। ऐसे पुरुषों से तो स्त्रियाँ ही अधिक बहादुर हैं।

फिर दुष्ट दुश्शासन हुआ था मुदित जिनको खींचकर।
ले दाहिने कर में वही निज केश-लोचन सींचकर॥
रखकर हृदय पर वाम कर शर-विद्ध हरिणी-सी हुई।
बोली विकलतर द्रौपदी वाणी महा करुणामई—
करुणासदन! तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो।
चिन्ता व्यथा सब पाण्डवों की शान्ति कर हरने लगो॥
हे तात! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा।
है प्रार्थना मत भूल जाना, याद रखना सर्वथा॥

द्रौपदी उग्र रूप धार करके कृष्ण और पाण्डवों के सामने हृदय के भाव प्रकट कर रही है। द्रौपदी का करुण-कथन सु कृष्ण के रथ के घोड़े और समस्त प्रकृति भी जैसे स्तब्ध रह ग

सब लोग चकित हो गये। सोचने लगे—आज द्रौपदी अपने हृदय की सारी कथा शब्दों के मार्ग से कृष्ण के आगे उड़ेल रही है।

दुःशासन द्वारा खींचे हुए केशों को अपने दाहिने हाथ में लेकर और बायाँ हाथ अपनी छाती पर रखकर द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—प्रभो! आप सन्धि करने जाते हैं! और सिर्फ पाँच गाँव लेकर सन्धि करेंगे? ठीक है, कौन ऐसा मूर्ख होगा जो विशाल राज्य में से केवल पाँच गाँव देकर संधि न कर लेगा! फिर आप सरीखे संधि कराने वाले दूत जहाँ हैं, वहाँ तो कहना ही क्या है? वहाँ संधि होने में शंका ही क्या हो सकती है? आप संधि करके पाण्डवों की चिन्ता और उनके कष्ट हरने चले हैं, लेकिन, प्रभो! दुष्ट दुःशासन का हाथ लगने के कारण मेरे मलीन बने हुए और खुले हुए यह केश क्या यों ही रहेंगे? क्या यह केश दुःशासन के खींचने के लिए ही थे! क्या इन केशों की कोई प्रतिष्ठा शेष रह गई है? जिस समय दुःशासन ने मेरे केश खींचे थे, उसी समय मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक केश खींचने वाले के हाथ वहीं न उखाड़े जाएँगे तब तक मैं इन्हें न धोऊँगी, न बाँधूंगी। क्या मेरे यह केश जन्म भर खुले ही रहेंगे! क्या मेरी प्रतिज्ञा आजीवन पूर्ण न होगी। अगर आप सत्य के पक्षपाती हैं तो पाण्डवों को युद्ध में प्रवृत्त कीजिए। अगर आप मुझे और पाण्डवों को प्रतिज्ञा-भ्रष्ट करना चाहते हैं तो भले ही संधि करने पधारिए।

दुःशासन का हाथ लगने के कारण द्रौपदी ने अपने केशों को भी मलीन माना, परन्तु आप क्या चर्बी लगे वस्त्र, हड्डी मिली शक्कर और मांस-मदिरा मिली औषध को भी मलीन मानते हैं? आप कॉडलीवर ऑइल—जो मछली के लीवर का तेल है, उसे भी मलीन नहीं मानते। अनेक आर्य और अहिंसाधर्मी कहलाने वाले लोग भी पी जाते हैं। द्रौपदी को राज्य जाने का इतना द[illegible] जितना वस्त्र खींचने के समय हुआ था। वस्त्र खींचने से

जाती थी। मतलब यह हुआ कि वस्त्र लज्जा की रक्षा करने के लिए हैं। लेकिन लाज मोटे कपड़ों से रहती है या बारीक वस्त्रों से? मोटे कपड़ों से!

लेकिन आजकल तो बड़े घरानों की स्त्रियाँ कहती हैं—जाड़े (मोटे) कपड़े जाटनियें पहनती हैं। हम भी वैसे ही पहनने-ओढ़ने लगेंगी तो उनमें और हममें क्या अन्तर रह जायगा?

द्रौपदी बाण से विंधी हुई हिरनी की तरह रोने लगी। कहा है—

कहकर वचन यह दुःख से तब द्रौपदी रोने लगी।
नेत्राम्बु धारा पात से कृश अंग को धोने लगी॥
हो द्रवण करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणाभरी।
देने लगे निज कर उठाकर सान्त्वना उसको हरी॥

द्रौपदी अपनी आँखों के आँसुओं से अपने दुबले शरीर को जैसे स्नान कराने लगी। हृदय के घोर संताप-संतप्त शरीर को मानो ठंडा करने का निष्फल यत्न करने लगी। निष्फल यत्न इसलिए कि उसके आँसू भी गरम ही थे और उनसे संताप मिटने के बदले बढ़ ही सकता था।

द्रौपदी की प्रार्थना सुनकर कृष्ण का हृदय भी पिघल गया। फिर भी उन्होंने अपने को सँभाला और हाथ उठाकर वह द्रौपदी को सान्त्वना देने लगे।

द्रौपदी की बातों का उत्तर देना कृष्ण को भी कठिन जान पड़ा। कृष्णजी द्रौपदी की कही बातें सत्य मानते हैं, लेकिन क्या कृष्णजी को संधि-चर्चा भंग करके धर्मराज से कह देना चाहिए कि—बस, अब संधि की बात मत करो। एक बार दूत भेज ही दिया था, अब ज्यादा पंचायत में पड़ने की जरूरत नहीं है। दुर्योधन दुर्जन है। वह यों मानने का नहीं। उससे कोई भी न्याययुक्त बात कहना ऊसर में बीज बोना है। अतएव समय न खोकर लड़ाई

की तैयारी करो ! द्रौपदी की बातों की सचाई समझते हुए भी बुद्धिमान् कृष्ण ने ऐसा नहीं कहा । बल्कि वह द्रौपदी को सान्त्वना देने लगे । उन्होंने अपना ध्येय नहीं छोड़ा ।

एक ओर संधि द्वारा शान्ति स्थापित करने की बात है और दूसरी ओर द्रौपदी का कहना मानकर युद्ध करने की । द्रौपदी की बात प्रबल दीखती है, लेकिन कृष्णजी महापुरुष थे । द्रौपदी के भाषण में रजोगुण छलक रहा है, लेकिन धर्मराज की बात सतोगुणी है और कृष्ण द्वारा समर्थित है ।

सुनकर कथन यह द्रौपदी का कृष्णजी कहने लगे—
धीरज बंधा कर प्रेमयुक्त यों वचन अमृत से पगे ।
है नीति-युक्ति सुयुक्त तेरा कथन पर जंचता नहीं,
कर्तव्यपथ पर यह सहायक हो कभी सकता नहीं ।
संतप्त होकर संधि से ही यह वचन तुमने कहे,
पर सोचती हो तुम नहीं क्या भेद उसमें छिप रहे ।
पट खींचने के समय में जो कुछ प्रमाण तुम्हें मिला,
कौरवगणों पर क्रुद्ध हो उसको दिया तुमने भुला ।

पहले जो कुछ कहा है, वह एक कवि की कल्पना है । अब जो कहता हूँ वह मेरी कल्पना समझिए । कवि की कल्पना में कमी यह है कि उसने रजोगुण में ही बात समाप्त कर दी है । प्रत्येक बात और विशेषतः आदर्श आख्यान सतोगुण में लाकर समाप्त करना और सतोगुण का आदर्श स्थापित करना उचित है ।

द्रौपदी को सान्त्वना देकर कृष्णजी कहने लगे—भद्रे ! रुदन मत करो । चित्त को शान्त और स्थिर करो । तुम्हें पहले की बातें स्मरण करके संताप होता है, और इसी से तुम पाण्डवों पर कुपित हो रही हो । शक्ति होने के समय ऐसा—स्वार्थ और माया द्वारा चित का चंचल हो जाना—स्वाभाविक है । साधारण मनुष्य को ऐसा ही होता है । लेकिन मेरा जन्म मनुष्य प्रकृति की हाँ-में-हाँ

मिलाने के लिए नहीं है। मैं अपने आचरण द्वारा मानव-प्रकृति को शुद्ध करके सत्पथ पर लाना चाहता हूँ। यही मेरा जीवन-उद्देश्य है। अगर तुम्हें मुझ पर विश्वास है तो ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो।

कृष्णजी की यह भूमिका सुनकर लोग उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगे कि देखें; द्रौपदी की बातों का कृष्णजी क्या उत्तर देते हैं। इस समय धर्मराज को बहुत प्रसन्नता हुई। वह सोचने लगे— संधि की बात मैंने ही चलाई थी, लेकिन द्रौपदी ने अपनी बातों से मेरी योजना निर्बल बना दी थी। द्रौपदी ने मुझ पर सारा उत्तरदायित्व डालकर एक प्रकार से मुझे कायर सिद्ध किया है। भाई भी द्रौपदी की बातों से सहमत हैं। अभी तक वह चुप रहे मगर द्रौपदी ने अपना अधिकार नहीं छोड़ा। उसने सहन भी तो बहुत किया है! सबसे अधिक अपमान उसी का जो हुआ है!

द्रौपदी की बात का उत्तर देने में धर्मराज अपनी असमर्थता अनुभव करते थे। उसने धर्मराज पर भी अभियोग लगाया था। मगर कृष्ण का सहारा मिलने से उन्हें प्रसन्नता हुई।

कृष्णजी की बात सुनकर सब लोग आश्चर्य करने लगे कि द्रौपदी की यह प्रबल युक्तियों से परिपूर्ण बातें भी कृष्णजी को नहीं जँची! सब विस्मय में डूबे हैं और धर्मराज प्रसन्नता अनुभव कर रहे हैं।

इस अवस्था में कृष्णजी कहने लगे—द्रौपदी! तुम्हारी बातें नीति और युक्तियों से भरी हैं, फिर भी मुझे जँचती नहीं हैं। तुम्हारा कथन कर्तव्य-मार्ग में सहायक नहीं हो सकता। मेरा कर्तव्य लड़ाई कराना नहीं, शान्ति स्थापित करना है।

लोग कुछ दिन पहले अहिंसा की शक्ति का उपहास करते थे। उनका कथन था कि अहिंसा का राजनीति से क्या सरोकार है? अहिंसा तो मन्दिरों में या इतर धर्मस्थानकों में पालन करने की चीज है। राजनीति और अहिंसा तो परस्पर विरोधी बातें हैं।

मगर अन्त में सत्य छिपा नहीं रहा। आज सब ने अहिंसा की प्रचण्ड शक्ति का अनुभव कर लिया हैं। अहिंसा की यह शक्ति तो अपूर्ण है। उसकी परिपूर्ण शक्ति का पता कभी भविष्य में चलेगा।

कई लोग समझते हैं कि कृष्ण का उद्देश्य लड़ाई करना था। लेकिन उनके उपदेश से—गीता से—इस कथन का समर्थन नहीं होता। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' का उपदेश देने वाला हिंसा का उपदेशक कैसे माना जा सकता है? कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा—,सब प्राणियों को अपने समान समझो। मैं सत्पुरुषों की रक्षा एवं दुष्कृतों का विनाश करने के लिए जन्मा हूँ। दुष्टों का नाश करने के लिए नहीं, किन्तु दुष्टों से प्रेम करने। उन पर दया करने और दुष्कृत्यों का नाश करने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है।

गीता में इस आशय की अनेक युक्तियाँ विद्यमान होने पर भी लोग गीता को लड़ाई कराने वाली पुस्तक और कृष्ण को लड़ाई कराने वाला पुरुष समझते हैं। मर्मज्ञ ही इन बातों की गहराई समझ पाते हैं। ऊपरी दृष्टि से वास्तविकता नजर नहीं आती।

तो कृष्णजी कहने लगे—द्रौपदी! लड़ाई कराना मेरे लिये उचित नहीं है। तुम्हें मुझ पर पूर्ण विश्वास है, इसीलिये तुमने मेरे सामने सब बातें कह दी हैं। लेकिन मुझे अपना कर्त्तव्य करने दो। तुमने जो कुछ कहा सो आवेश के वश होकर ही। तुम संधि की वार्त्ता से दुखित हुई हो। तुम सोचती हो—पाँच गाँवों से हमारा काम कैसे चलेगा? और इस प्रकार संधि कर लेने से उनकी जीत और हमारी हार समझी जायगी। द्रौपदी! तुमने वन में रहकर भी अपना काम चलाया है, इसलिये शायद पाँच गाँव लेकर काम चलाने में तुम्हें कठिनाई नहीं भी मालूम होती हो, तो भी इस प्रकार की संधि में तुम्हें कौरवों की गुरुता और अपनी लघुता प्रतीत होती है। इन्हीं कारणों से तुम संधि का विरोध कर रही हो। लेकिन तुम्हें यह नहीं मालूम कि संधि करने में क्या रहस्य छिपा हुआ है। यह बात मैं जानता हूँ या धर्मराज जानते

हैं। संधि में पाँच गाँव राज्य करने के लिये मैंने नहीं माँगे हैं और न कौरवों से भयभीत होकर ही ऐसा किया है। कौरवों की दुष्टता का नाश करने के लिए ही यह माँग उपस्थित की गई है। अगर कौरव पाँच गाँव दे देंगे तो वह दुष्ट कहलायेंगे। संसार उन्हें घृणा की दृष्टि से देखेगा। कोई आदमी किसी के पास एक करोड़ की धरोहर रख देता है और फिर केवल पाँच रुपया लेकर फैसला कर लेता है, तो पाँच रुपये में फैसला करने वाले का संसार में यश ही होगा। पाँच रुपया देने वाला सोचेगा कि एक करोड़ के बदले पाँच रुपया देने से मुझे संसार क्या कहेगा? यही बात पाँच ग्राम लेकर संधि करने में है।

विशाल राज्य के बदले सिर्फ पाँच ग्रामों से संतुष्ट हो जाने में पाण्डवों का तो कल्याण ही है। हाँ इसमें कौरवों की ही लघुता है। मैं लड़ाई कराने के बदले इस प्रकार का उत्तम आदर्श पेश करना अच्छा समझता हूँ। इस संधि से संसार पांडवों की प्रशंसा करेगा। सभी लोग मुक्त-कण्ठ से पांडवों की सराहना करते हुए कहेंगे—पांडवों ने बारह वर्ष तक वन में और एक वर्ष अज्ञात रहकर भी अपने अधिकार का राज्य केवल शान्ति के लिए छोड़ दिया!

क्रोध से आवेश हो आता है। मगर क्रोध का त्याग करना साधारण बात नहीं है।

पट खींचने के समय में कुछ प्रमाण तुम्हें मिला।

दुःशासन द्वारा पट खींचे जाने के समय सभा में खड़ी होकर तुमने भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि सब से न्याय की भिक्षा माँगी थी। न्याय भी क्या? केवल यही कि धर्मराज अगर जुए में पहले अपने आपको हार गये हों तो फिर उन्हें यह अधिकार कहाँ रहता है कि वे मुझे हारें? हाँ अगर पहले मुझे हारा हो और फिर अपने आपको, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। तुम्हारे बहुत कहने-सुनने पर भी किसी ने न्याय दिया था? तुम उस समय की बात स्मरण करो।

द्रौपदी! तुम इन केशों को बतला रही हो लेकिन इनके

साथ की उस समय की बात भूली जा रही हो जब तुम्हें किसी ने न्याय नहीं दिया और तुमने सब बल छोड़ दिया और जब मन-ही-मन कहा— प्रभो ! शरीर, लाज, तन, मन, धन आदि तुझे सौंप चुकी हूँ । अब तू चिन्ता कर, मुझे चिन्ता नहीं है । इस प्रकार कहकर निर्बल बन गई थी, तब तुम्हारी रक्षा हुई थी या नहीं ? दुःशासन बड़ा बली था । लेकिन तुम्हारा चीर खींचते-खींचते तो वह भी थक गया । उस समय किसने तुम्हारी रक्षा की थी ?

श्रद्धा रखो उस सत्य पर जो अखिल जग का प्राण है ।
सच्चा हितैषी पाण्डवों का और अटल महान् है ॥

द्रौपदी ! तुम्हें उस अटल सत्य पर विश्वास रखना चाहिए ।

'सच्चं खु भगवं'

सत्य विश्वास ही ईश्वर है, यह समझकर सत्य पर श्रद्धा रखो । सत्य पर विश्वास होगा तो ईश्वर पर भी विश्वास होगा ।

कृष्ण ने कहा— द्रौपदी ! जिसने तुम्हारे वस्त्र बचाए, वही सत्य तुम्हारी बात रखेगा । तुम शांत होओ ! उत्तेजना के वशीभूत होकर तुम इस समय सत्य को भूल रही हो ।

तुम्हें भीम की प्रतिज्ञा पूर्ण न होने की चिन्ता है लेकिन इससे सत्य पर अविश्वास होता है, इसकी चिन्ता है या नहीं ? चीर खींचने के समय भीम और अर्जुन काम आये थे ? जिस सत्य का अपरिमित प्रभाव तुम जान चुकी हो, उसे क्यों भुलाये देती हो ? तुम साधारण स्त्री नहीं हो, संसार को अनुपम शिक्षा देनी वाली आदर्श देवी हो । तुम पाण्डवों के साथ वन-वन भटकी हो, तुमने विराट के घर दासीत्व किया है, लेकिन यह सब किया है राज्य पाने की आशा से । मै कहता हूँ—तुम ईश्वर बनने के लिए ईश्वर को भेजो । जरा से राज्य के टुकड़े पर ललचाकर सत्य पर अविश्वास मत करो ।

भाइयो ! और बहिनो ! कृष्णजी का यह उपदेश केवल द्रौपद के लिए नहीं है । यह वर्तमान और भावी प्रजा के लिए भी है

इतिहास और भूगोल समयानुसार पलटता रहता है, लेकिन सत्य का यह उपदेश सत्य की भांति सदैव रहेगा। जैसे सत्य ध्रुव है। उसी प्रकार यह उपदेश भी ध्रुव है।

कृष्ण कहते हैं—संधि हो जाने पर तुम्हारा सिर न गूंथा जायगा तो क्या वह मुंडित न हो सकेगा ? सिर का मुंडन भी तो किया जा सकता है। लोकोत्तर धर्म की भावना से मुंडन कराया हुआ सिर अनन्त सौभाग्य का सूचक है। भीम की प्रतिज्ञा भी अगर नहीं रहती तो न रहे, लेकिन सत्य उससे भी बढ़कर है। उसे जाने देना, उस पर अविश्वास करना उचित नहीं है। जो मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य की रक्षा करता है, सारा संसार संगठित होकर भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

द्रौपदी ! तुम कहती हो, जिन कौरवों ने पाण्डवों को विष दिया, उन पर दया कैसी ? लेकिन यह तो सोचो कि पाण्डवों को कैसा भयंकर विष दिया होगा ! उस उग्र विष से कोई बच सकता था ? फिर उस विष से उस समय उन्हें किसने बचाया ? जिस सत्य ने उस भयानक विष से रक्षा की थी वह सत्य क्या भुला देने योग्य है ? जिसने पाण्डवों की प्राणरक्षा की उसकी पाण्डवों द्वारा हत्या करना तुम पसन्द करोगी ?

द्रौपदी ! तुम लाक्षागृह का घोर संकट बतलाकर कहती हो, उसकी याद आ जाती है। तुम उस विकराल आग की याद तो करती हो, लेकिन यह भी याद आता है कि लाक्षागृह में से बच निकलने की आशा थी या नहीं ? जिस सत्य के प्रताप से वह संकट टल सका, उसी सत्य पर अब अविश्वास करने चली हो ?

कृष्ण फिर कहते हैं—द्रौपदी ! आवेश में आने पर आज तुम्हें कौरवों की बुराई दिखाई देने लगी। पाण्डवों को भटकते देखा और सर्वस्व चला गया। इसलिए आज तुम्हें चिन्ता हो गई, लेकिन आवेश को त्यागकर सत्य का चिन्तन करो। सत्य से तब भी कल्याण हुआ

था, अब भी होगा। जैसे मलीन काँच में मुँह नहीं दीखता, उसी प्रकार लोभ और तृष्णा से भरे हुए हृदय को न्याय नहीं सूझता। तुम अपने कष्ट-सहन की बात कहती हो, सहनशीलता का स्मरण करती हो, लेकिन सत्य ने भी तुम्हारे लिए कुछ उठा नहीं रखा। हृदय का मालिन्य दूर कर दो, सत्य उस पर प्रतिविम्बित होने लगेगा।

द्रौपदी! संसार के समस्त आभूषणों में विद्या बड़ा आभूषण है। मनुष्य-शरीर का शृङ्गार हार नहीं है, विद्या है। विना हार-शृङ्गार के विद्वान शोभा दे सकता है, लेकिन विना विद्या के हार-शृङ्गार शोभा नहीं देता। मैंने शृङ्गार नहीं कर रखा है, तो क्या मैं बुरा लगता हूँ? द्रौपदी! विद्या बड़ी चीज है, मगर क्रोध को मार डालना उससे भी बड़ी बात है। इसलिए गहने और राज्य आदि जाने की चिन्ता मत करो।

द्रौपदी! सत्य पर अटल विश्वास रखो। सत्य की ही अन्तिम विजय होगी। सत्य से खिसकना पराजय के समीप पहुँचना है।

इस आख्यान पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर इसे विस्तार पूर्वक कहने का समय नहीं है। मनुष्य रजोगुण और तमोगुण के वशीभूत होकर किस प्रकार विराट शक्ति को भूल जाता है, यह बतलाने के लिए ही यह कहा गया है।

४८ : गुरु-शिष्य

श्रीकृष्ण इतिहास में प्रसिद्ध महापुरुषों में से एक हैं। वे बहुत बड़े राजा के पुत्र थे। महापुरुष होने के कारण उनमें बहुत अधिक समझ थी। फिर भी माता-पिता का आग्रह मानकर वह सान्दीपिनि ऋषि के पास पढ़ने गये। इन्हीं ऋषि के पास सुदामा नामक एक गरीब ब्राह्मण विद्यार्थी भी पढ़ता था। कृष्णजी का उससे प्रेम हो गया। दोनों गाढ़े मित्र बनकर रहने लगे।

संयोगवश एक दिन गुरु कहीं चले गये और घर में जलाने की लकड़ी नहीं थी। लकड़ी के अभाव में गुरुपत्नी भोजन नहीं बना सकती थी। यह देखकर कृष्णजी अपने मित्र सुदामा को साथ लेकर लकड़ी लाने के उद्देश्य से जंगल की ओर चल दिये। दोनों जंगल में पहुँचे। वहाँ लकड़ियाँ तोड़कर या काटकर जब दोनों ने भारे बाँधे तो बड़े जोर से वर्षा होने लगी। रात भर वर्षा होती रही। वर्षा के कारण कृष्ण और सुदामा लकड़ियाँ लिए वृक्ष के नीचे खड़े रहे।

मूसलधार पानी बरस रहा था, तेज आँधी चैन नहीं लेती थी। मेघों की भयंकर गर्जना कानों के पर्दे फाड़ने को तैयार थी। बिजली कड़क रही थी। घोर अन्धकार चारों ओर फैला था। हाथ-को-हाथ नहीं दीखता था। ऐसे समय में दो बालक पेड़ के नीचे खड़े ठिठुर रहे थे। वर्षा और आँधी से यद्यपि उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा था, तथापि उनके मन मैले नहीं थे। अपने कष्टों की उन्हें चिन्ता नहीं थी। उन्हें चिन्ता थी तो केवल यही कि हम लोगों के समय पर न पहुँच सकने के कारण आज आचार्य के घर रोटी न बन सकी

होगी और उन्हें भूखा रहना पड़ा होगा ! कृष्णजी रात भर अपने साथी सुदामा से इसी प्रकार की बातें करते रहे।

प्रातःकाल होने पर गुरु अपने घर आये। विद्यार्थियों को न देखकर अपनी पत्नी से पूछा। पत्नी ने उत्तर दिया—कृष्ण और सुदामा लकड़ी लेने के लिए कल से ही जंगल में गये हैं और वर्षा तथा आँधी के कारण अब तक नहीं लौटे। यह सुनकर गुरु नाराज होने लगे। कहा—तुमने बच्चों को लकड़ी लाने के लिए भेजा ही क्यों ?

गुरुपत्नी ने कहा—मना करती रही, फिर भी वे लोग चले गये।

गुरु तत्क्षण जंगल की ओर चल पड़े। जंगल में जाकर उन्होंने देखा—कृष्ण और सुदामा दोनों पेड़ के नीचे खड़े ठिठुर रहे हैं। उन्हें देखकर आचार्य ने कहा—वत्स ! मैं तुम लोगों को क्या पढ़ाऊँ ? विद्या के अध्ययन से जो गुण उत्पन्न होने चाहिये, वह तो तुम लोगों में मौजूद ही हैं। देखो न, बेचारा सुदामा इस विपत्ति से कितना घबरा गया है ? तुम (कृष्ण) महापुरुष हो, इस कारण घबराये नहीं और सदा की भाँति प्रसन्न दीख पड़ते हो। इतना कहकर आचार्य उन्हें घर ले गये।

विद्यार्थी की अपने गुरु के प्रति कैसी श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए, उसका आदर्श इस कथा में बतलाया गया है। साथ ही यह भी प्रकट किया गया है कि अध्यापकों में और विद्यार्थियों में यह बात कहाँ !

४९ : वशीकरण

जो व्यक्ति अपना काम आप करके दूसरों का काम करने में समर्थ होता है, वही व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और दूसरों पर अपना प्रभाव भी डाल सकता है। यह बात एक प्राचीन उदाहरण द्वारा समझो।

विराट नगरी में अज्ञातवास समाप्त करके पाण्डव अभी प्रकट हुए थे। वे अपनी प्रसिद्धि करने के लिए अभिमन्यु का विवाह उत्तरा के साथ कर रहे थे। इस विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए श्रीकृष्ण की कई रानियाँ भी विराट-नगरी में आई हुई थीं। विवाहोत्सव सानन्द सम्पन्न हो जाने के बाद जब श्रीकृष्ण की रानियाँ वापिस द्वारिका लौटने लगीं तो द्रौपदी उन्हे विदा करने गई। श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा बहुत भोली थी। इसलिए 'भोली भामा' की कहावत प्रसिद्ध हो गई है। भोली सत्यभामा ने रास्ते में द्रौपदी से कहा—मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ। द्रौपदी ने उत्तर में कहा—तुम मुझसे बड़ी हो और तुम्हें मुझसे प्रत्येक बात पूछने का अधिकार है। तब सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा—मेरे एक ही पति हैं, फिर भी वह मेरे वश में नहीं रहते और तुम्हारे पाँच पति हैं फिर भी वे पाँचों तुम्हारे वश में रहते हैं। अतएव मैं पूछना चाहती हूँ कि क्या तुम्हारे पास कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र है, जिसके प्रभाव से तुम पाँचों पतियों को अपने वश में रख सकती हो? अगर ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती होओ तो मुझे भी वह मन्त्र सिखा दो न?

द्रौपदी ने उत्तर दिया—मैं ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती हूँ,

परन्तु जान पड़ता है, कोमलांगी होने के कारण तुम वह मन्त्र साध नहीं सकोगी ।

सत्यभामा कहने लगी—मैं उस मन्त्र को अवश्य साध सकूँगी । मुझे अवश्य वह मंत्र बता दो । मुझे उसकी बड़ी आवश्यकता है ।

ऐसे वशीकरण मन्त्र की आवश्यकता किसे नहीं होती ? उसे तो सभी चाहते हैं । पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पति पत्नी को, पत्नी पति को और इस प्रकार सभी एक दूसरे को अपने वश में करना चाहते हैं । मगर यह मन्त्र जब साध लिया जाय तभी सब को वश में किया जा सकता है ।

द्रौपदी ने सत्यभामा से कहा—मैं वशीकरण मन्त्र द्वारा सब को अपने वश में रखती हूँ । वह मन्त्र यह है कि 'स्वयं दूसरे के वश में रहना ।' इस मन्त्र से जिसे चाहो उसे वश में कर सकती हो । इस मन्त्र को साधने का उपाय मेरी माता ने मुझे सिखाया है । मन्त्र साधने की विधि बताते हुए मेरी माता ने कहा था—पति के उठने से पहले उठ जाना । फिर पति की आवश्यकताएँ अपने हाथ से पूरी करना । दास-दासियों के भरोसे न बैठी रहकर सब काम अपने हाथ से करना और दास-दासी की अपेक्षा अपने-आपको बड़ी दासी समझना । इस प्रकार अपने को नम्र बनाकर सब काम करना । बड़ों-बूढ़ों की मर्यादा रखना । सब की सेवा-शुश्रुषा करना और सबको भोजन कराने के बाद आप भोजन करना । इसी प्रकार सब के सो जाने पर सोना । काम करते-करते फुर्सत मिल जाय तो सब को कर्तव्य और धर्म का भान कराना । इस प्रकार कर्तव्य-परायणता का परिचय देकर अपनी चारित्रशीलता का प्रभाव डालना । यही वशीकरण मन्त्र को साधने के उपाय हैं । इस उपाय से मन्त्र की अच्छी तरह साधना की जाय तो अपने पति को तथा अन्य कुटुम्बी जनों को अपने अधीन किया जा सकता है । अगर तुम इस विधि से मंत्र की साधना करोगी तो श्रीकृष्ण अवश्य तुम्हारे वश में हो जाएँगे ।

तुम लोग भी इस वशीकरण मन्त्र को साधने का प्रयत्न करोगे तो अवश्य उसे साध सकोगे। अगर तुमने मन्त्र-साधन का साहस ही न किया और दूसरे के भरोसे बैठे रहे तो यह तुम्हारी पराधीनता कहलाएगी। शास्त्र तुम्हें जो उपदेश देता है सो तुम्हारी परतन्त्रता दूर करने के लिए ही है। शास्त्र तो तुम्हें आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से स्वतन्त्र करना चाहता है। इसी कारण शास्त्र आध्यात्मिक उपदेश के साथ ७२ कलाओं का शिक्षण संपादन करने का भी उपदेश देता है। मगर तुम तो परतन्त्रता में और दूसरों के हाथों काम कराने में ही सुख मान बैठे हो। परतन्त्र रहने में और दूसरों के हाथों काम कराने में कम पाप होता है और सुख मिलता है, यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपने हाथ से काम करने में कम पाप लगता है या दूसरे से कराने में, इस बात का अगर बुद्धिपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हें विश्वास हो जायगा कि स्वतन्त्रता में सुख है और परतन्त्रता में दुःख है। पाप परतन्त्र दशा में अधिक होता है और स्वतन्त्र-दशा में कम होता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा को वशीकरण मन्त्र और उस मन्त्र को साधने के उपाय बतलाते हुए कहा—दूसरों के वश में रहना सच्चा वशीकरण है और पति-सेवा में सुख मानना, पति की आज्ञा मानना तथा कर्तव्यशील और धर्मपरायण होकर रहना मन्त्र साधने के उपाय हैं। अगर तुम इस मन्त्र की साधना करोगे तो तुम भी सब को अपने वश में कर सकोगे। यह मन्त्र तो विश्व को वश में करने वाला वशीकरण मन्त्र है।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष स्वावलम्बी बनता है और अपना काम आप करके दूसरे का भी काम कर लेता है, वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। दूसरों को गुलाम रखने वाला स्वयं गुलाम बनता है।

५० : एक ही पत्नी

एक वार नारदजी ने श्रीकृष्ण से कहा—आप महान् पुरुष गिने जाते हैं, फिर इतनी पत्नियाँ रखना आपके लिए क्या उचित है ? श्रीकृष्णजी ने उत्तर दिया—मेरे सिर्फ एक ही पत्नी है, दूसरी नहीं है।

नारद—आपकी बात मेरी समझ में नहीं आती। महल-के-महल रानियों से भरे पड़े हैं और आप कहते हैं—मेरे सिर्फ एक ही पत्नी है।

श्रीकृष्ण—अगर आपको विश्वास नहीं है तो अन्तःपुर में जाकर देख आइये कि एक रानी के साथ एक कृष्ण है या नहीं ? जिस रानी के साथ मैं न होऊँ, समझ लीजिये कि वह मेरी पत्नी नहीं है।

नारदजी ने सोचा—देखें, कृष्णजी कहाँ-कहाँ दौड़ेंगे। मैं एक मुहूर्त में पैंतालीस लाख योजन चलने वाला हूँ। ऐसा सोच नारदजी दौड़कर प्रत्येक महल में गये। मगर उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जिस महल में वह पहुँचे, कृष्णजी वहीं मौजूद हैं। कृष्ण की रानियों में उन्हें एक भी ऐसी न मिली जो बिना कृष्ण की हो। इस प्रकार नारदजी सब महल देखकर जब सभा-भवन में लौटे तो उन्होंने कृष्ण को सिंहासन पर बैठे देखा। नारदजी बोले—आप यहाँ भी मौजूद हैं ? कृष्णजी मुस्कराहट के साथ बोले—कहाँ जाऊँ, मेरे तो स्त्री ही नहीं है। आपकी लीला अपरम्पार है, कहकर नारदजी चल दिये।

आज के लोग सहज ही यह कह सकते हैं कि ऐसी असंभव बातों को सुनना भी वृथा है, लेकिन जो लोग वैक्रियलब्धि नहीं मानते उन्हें बहुविवाह भी नहीं मानना चाहिए। जिस शास्त्र की एक बात को आप अस्वीकार करते हैं, उसी की दूसरी बात स्वीकार कैसे कर सकते हैं ?

५१ : दुर्योधन-अर्जुन

महाभारत के अनुसार अर्जुन और दुर्योधन श्रीकृष्ण को अपनी-अपनी ओर से युद्ध में सम्मिलित होने का निमन्त्रण देने गये थे। कृष्ण उस समय सो रहे थे। उन्हें जगाने का तो किसी में साहस नहीं था, अतएव दोनों उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे। अर्जुन में कृष्ण के प्रति सेवकभाव था, अतएव उसने उनके चरणों की ओर खड़ा रहना उचित समझा। वह चरणों की ओर ही खड़ा हो गया। दुर्योधन में अहंकार था। वह सोचता था—मैं राजा होकर पैरों की ओर कैसे खड़ा रह सकता हूँ? इस अभिमान के कारण वह कृष्ण के सिर की ओर खड़ा हुआ। कृष्ण जागे। कोई भी मनुष्य जब सोकर उठता है तो स्वाभाविक रूप से पैरों की ओर वाले मनुष्य के समीप और सिर की ओर वाले मनुष्य से दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त पहले उसी पर दृष्टि पड़ती है जो पैरों की ओर खड़ा होता है। इस नियम के अनुसार अर्जुन, कृष्ण के नजदीक हो गये और अर्जुन पर ही उनकी दृष्टि पहले पड़ी।

दुर्योधन पश्चात्ताप करने लगा कि सिर की तरफ क्यों खड़ा हो गया! हाय! मैं पैरों की तरफ क्यों नहीं खड़ा हुआ! अर्जुन कृष्ण से पहले मिल रहा है। कहीं ऐसा न हो कि वे उनका साथ देना स्वीकार कर लें। मैंने इतनी दौड़-धूप की। कहीं ऐसा न हो कि मेरा आना वृथा हो जाय!

इस प्रकार सोचकर दुर्योधन ने किसी संकेत द्वारा कृष्ण पर अपना आना प्रकट कर दिया।

अर्जुन के प्रणाम करने पर श्रीकृष्ण ने आने का कारण पूछा—अर्जुन ने कहा—कौरवों के साथ युद्ध होना निश्चित हो चुका है। अतएव मैं आपको युद्ध का निमंत्रण देने आया हूँ।

श्रीकृष्ण—मुझे जो आमंत्रित करे, मैं उसी के यहाँ जाने को तैयार हूँ। लेकिन दुर्योधन भी आया है। उसे भी निराश करना उचित नहीं होगा। इसलिए एक ओर मैं हूँ और दूसरी ओर मेरी सेना है। दोनों में से जिसे चाहो, पसंद कर लो।

अर्जुन को श्रीकृष्ण पर विश्वास था। उसने कहा—मैं आपको ही चाहता हूँ।

अर्जुन की मांग सुनकर दुर्योधन वहुत प्रसन्न हुआ। वह मन में सोचने लगा—मेरा भाग्य अच्छा है, इसी कारण तो अर्जुन ने सेना नहीं माँगी। युद्ध में तो आखिर सेना ही काम आएगी। अकेले कृष्ण क्या करेंगे ?

अर्जुन के वाद दुर्योधन की बारी आई। उससे भी आने का प्रयोजन पूछा गया। दुर्योधन ने भी यही कहा कि मैं भी युद्ध का निमंत्रण देने आया हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा—ठीक है। एक ओर मैं और दूसरी ओर मेरी सेना ! अर्जुन ने मुझे माँग लिया है। तुम क्या चाहते हो ?

दुर्योधन मन में सोच रहा था कि मैं अकेले कृष्ण को लेकर क्या करूँगा ? मुझे तो सेना चाहिए जो काम आएगी, मगर प्रकट रूप में वह ऐसा नहीं कह सका। उसने कहा—जिसे अर्जुन ने माँग लिया है उसे माँगने से क्या लाभ ? माँगी हुई चीज को फिर माँगना क्षत्रियों का काम नहीं है। अतएव आप अपनी सेना मुझे दे दीजिये।

कृष्ण वड़े चतुर थे। दुर्योधन की समझ पर मन-ही-मन हँसे और सोचने लगे—दुर्योधन को मुझ पर विश्वास नहीं है, मेरी सेना पर विश्वास है, आखिर उन्होंने कहा—अर्जुन ! मैं तुम्हारा हूँ और दुर्योधन ! सेना तुम्हारी है।

अर्जुन को कृष्ण पर और दुर्योधन को सेना पर विश्वास था। फल क्या हुआ ? गीता के अन्त में कहा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं—आप युद्ध के विषय में क्या पूछते हैं ? यह तो निश्चित समझिए कि जिस ओर योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन हैं, विजय उसी पक्ष की होगी। विरोधी पक्ष को विजय मिलना असम्भव है।

५२ : सत्यवादी-युधिष्ठिर

जो मनुष्य सत्य-मार्ग का पथिक है, उस पर शत्रु भी विश्वास करते हैं और यह बात ध्रुव सत्य है कि वह शत्रु से भी विश्वासघात नहीं करता। इसके लिए महाभारत में वर्णित एक कथा का उदाहरण दिया जाता है।

जिस समय महाभारत युद्ध में दुर्योधन की प्राय: सब सेना और भाई नि:शेष हो गये, सौ भाइयों में से एक दुर्योधन ही जीवित बचा, उस समय दुर्योधन ने सोचा कि मैं अकेला क्या कर सकता हूँ? पाण्डवों के पास इस समय भी पर्याप्त शक्ति है और मैं अपने भाइयों में से अकेला हूँ। यह सोचकर प्राण बचाने के लिए वह एक तालाब की जलराशि में जा छिपा। कई दिन तक इसी प्रकार छिपे रहने के पश्चात् उसने सोचा कि मैं क्षत्रिय हूँ, उद्योग करना मेरा कर्तव्य है, अत: कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि जिससे मेरी मृत्यु भी न हो और मैं पूरी शक्ति के साथ अकेला ही पाण्डवों से युद्ध कर सकूँ। सोचते-सोचते, उसके विचार में यह बात आई कि युधिष्ठिर सरल हृदय हैं और सदैव सत्य-भाषण करते हैं, अत: उन्ही से कोई ऐसी युक्ति पूछनी चाहिए, जिससे मैं अजेय हो जाऊँ। यह सोचकर, दुर्योधन जल से बाहर निकला और युधिष्ठर के पास जाकर पूछने लगा कि महाराज! मुझे कोई ऐसी युक्ति बताइये, जिससे मैं अजेय हो जाऊँ और भीम या अर्जुन, जिनका मुझे विशेप भय है—मेरा कुछ न विगाड़ सकें। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—राजन्! यह सिद्धि तो तुम्हारे घर में ही है, कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। माता गान्धारी बड़ी सती हैं। यदि वे

एक दृष्टि से तुम्हारे खुले शरीर की ओर देख लें तो सारा शरीर वज्र के समान कठोर हो जाय। किन्तु एक वात और है, वह यह कि शरीर के जिस भाग पर उनकी दृष्टि न पड़ेगी, वह कच्चा ही रह जायगा।

युधिष्ठिर की यह वात सुनकर दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि अव क्या है, अभी जाकर माता गान्धारी के सामने से नग्न होकर निकल जाऊँगा, वस फिर तो अर्जुन और भीम मेरा कुछ भी न विगाड़ सकेंगे।

दुर्योधन यह सोचता हुआ अपने घर की ओर जा रहा था कि मार्ग में उसे श्रीकृष्ण मिले। उन्होंने दुर्योधन के हृदय की वात जानकर कहा कि दुर्योधन! यह युक्ति तो धर्मराज-युधिष्ठिर ने अच्छी वतलाई है और इससे तुम्हारा सारा शरीर वज्र वन भी जायगा, किन्तु विलकुल नग्न होकर तुम्हें अपनी माता के पास जाना उचित नहीं है। लज्जा की रक्षा के लिए कम-से-कम एक कमल-कोपीन अवश्य लगा लेना।

पहले तो इसके लिए दुर्योधन कुछ आनाकानी करता रहा, किन्तु श्रीकृष्ण के नीति वतलाने पर उसने यह वात स्वीकार कर ली। वह अपनी माता के पास गया और उससे यह सारी कथा कही। गान्धारी यह सुनकर चौंकी, उसे यह नहीं मालूम था कि मेरे में ऐसी शक्ति मौजूद है। किन्तु युधिष्ठिर सदैव सत्य वोलते हैं, कभी असत्य भाषण नहीं करते, अतः अविश्वास करने का कोई कारण भी न था। गान्धारी ने एक दृढ़-दृष्टि से दुर्योधन को देख लेना स्वीकार किया, तव दुर्योधन एक कमल-कोपीन लगाकर उसके सामने आ खड़ा हुआ। गान्धारी ने एक दृढ़-दृष्टि से दुर्योधन के शरीर की ओर देख लिया, इससे उसका सारा शरीर तो वज्र के समान कठोर हो गया, किन्तु जो स्थान ढका हुआ था, वह कच्चा रह गया। दुर्योधन ने सोचा कि इस स्थान के कच्चे रह जाने से मेरी क्या क्षति हो सकती है? यह स्थान तो धोती के भीतर रहता है, इस पर चोट करने कौन आता है? यह विचार कर वह वाहर निकल आया और पाण्डवों के पास जाकर दूसरे दिन भीम से

गदा-युद्ध करने की बात तय की।

गान्धारी के नेत्रों में ऐसी शक्ति होने का कारण उसका पति-व्रत-धर्म था। उसने अपने नेत्रों से कभी भी किसी पर-पुरुष को बुरी दृष्टि से नहीं देखा था। पतिव्रता स्त्री के नेत्रों में यह शक्ति होती है कि यदि वह किसी को पुत्र की तरह प्रेम की दृढ़-दृष्टि से देख ले तो उसका शरीर वज्र-मय हो जाय और यदि क्रोध की दृष्टि से देख ले तो भस्म हो जाय।

मनुष्य यदि चाहे तो अपने नेत्रों और वाणी में सत्य से ऐसी ही शक्ति पैदा कर सकता है। असत्य-स्थान पर दृष्टि न डालने और असत्य भाषण न करने से वाणी और नेत्रों में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो सकती है कि नेत्र से जिसे देख ले उसका शरीर वज्र-सा दृढ़ हो जाय या भस्म हो जाय और वाणी से जो कुछ कह दे वह पूरा ही हो।

प्रायः पहले के लोगों की वाणी में वह शक्ति होती थी कि जिसके लिए जो कुछ कह देते थे, वही हो जाता था। उनका आशीर्वाद या श्राप मिथ्या नहीं होता था। लेकिन लोग सत्य का पालन करते थे और बात-बात में न तो किसी को आशीर्वाद ही देते थे, न श्राप ही। आज के लोग दिन-रात दूसरे का बुरा-भला चाहा करते हैं, अर्थात् आशीर्वाद या श्राप दिया करते हैं, फिर भी कुछ नहीं होता। इसका कारण यही है कि सत्य को न पहिचानने से उनकी वाणी निस्तेज है। यदि सत्य को पहिचान लें तो न वे इस प्रकार किसी का भला बुरा ही चाहें और न चाहा हुआ भला-बुरा निष्फल ही हो।

दूसरे दिन दुर्योधन और भीम का गदा-युद्ध हुआ। भीम ने अपनी पूरी शक्ति से दुर्योधन के सिर, पीठ, छाती, भुजा आदि स्थानों पर गदा-प्रहार किये, किन्तु सब निष्फल। गदा लगती और टकराकर लौट आती, दुर्योधन का बाल भी बाँका न होता। इसी समय भीम को अपनी प्रतिज्ञा याद आई कि मैंने द्रौपदी चीरहरण के समय दुर्योधन की जंघा चूर्ण करने की प्रतिज्ञा की थी। बस, तत्क्षण उसने अपनी

गदा का प्रहार दुर्योधन की जंघा पर किया। जंघा कच्ची तो रह गई थी, गदा लगते ही चूर्ण हो गई और दुर्योधन गिर पड़ा।

जो मनुष्य सत्य-व्रत के पालने वाले हैं, वे अपनी शरण में आये हुए शत्रु के साथ भी दुष्टता का व्यवहार नहीं करते। शरण में आया व्यक्ति जो सलाह पूछता है वह बिना किसी प्रकार का भेद-भाव रखे और बिना किसी प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष के ठीक-ठीक बतला देते हैं, यह नहीं देखते कि शरणागत शत्रु है या मित्र।

युधिष्ठिर यह जानते हैं कि दुर्योधन से मेरा युद्ध चल रहा है, मेरे भाई भीम और अर्जुन को हराने के लिए ही यह मुझ से सलाह पूछने आया है। इस समय यदि वे चाहते तो कोई ऐसी राय बतला सकते थे, जिससे स्वयं दुर्योधन अपना नाश अपने हाथ से कर लेता। किन्तु युधिष्ठिर ने ऐसा न करके स्वच्छहृदय से सच्ची और लाभदायक सम्मति दी। ऐसा करने वाले सत्यमूर्ति—युधिष्ठिर के सत्य-व्रत की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि जो मनुष्य सत्य मार्ग का पथिक है, वह कभी अपने शत्रु की क्षति के लिए भी झूठ का आश्रय नहीं लेता। बल्कि आवश्यकता पड़ने पर शत्रु यदि राय पूछे तो शत्रुता को दूर रखकर एक मित्र की तरह राय देता है।

युधिष्ठिर को दुर्योधन ने कितने कष्ट दिये थे, वह युधिष्ठिर को अपना कैसा भयंकर शत्रु समझता था; फिर भी युधिष्ठिर ने दुर्योधन से असत्य भाषण नहीं किया। दुर्योधन के अजेय होने पर युधिष्ठिर की ही हानि थी, क्योंकि उसे पराजित करने के लिए ही यह युद्ध हुआ था। लेकिन युधिष्ठिर ने ऐसे समय में भी सत्य को ही प्रधानता दी और अपनी हानि की कुछ चिन्ता नहीं की। आज के लोगों पर युधिष्ठिर का-सा कोई असमय न होते हुए भी, वे असत्य को प्रधानता देते हैं और शत्रु से झूठ न बोलना तो दूर रहा, मित्र से भी झूठ बोलने में संकोच नहीं करते। ऐसे लोग इस बात को

विलकुल भूल जाते हैं कि असत्य की विजय नहीं होती, विजय सत्य की ही होती है। यद्यपि युधिष्ठिर ने स्वयं दुर्योधन को अजेय होने की युक्ति बता दी थी और वह युक्ति असत्य नहीं थी, फिर भी सत्य की विजय होने के लिये दुर्योधन को मार्ग में कृष्ण मिल गये और उसे पराजित होना पड़ा। इसी प्रकार सत्य की विजय और असत्य की पराजय होने के लिये कुछ-न-कुछ कारण हो ही जाया करता है।

५३ : पाप का लेश

एक बार द्रौपदी नदी में स्नान करने गई थी। द्रौपदी की गणना पतिव्रता स्त्रियों में है। जैन साहित्य और महाभारत दोनों में ही उसे पतिव्रता माना है। दुर्योधन उसे नग्न करना चाहता था लेकिन द्रौपदी के सत्य के प्रभाव से वस्त्र का ढेर लग गया था। वह नग्न नहीं हुई। उसका पतिव्रत ससार में प्रसिद्ध था।

द्रौपदी स्नान करने गई थी कि इतने में ही कर्ण उस ओर से निकले। कर्ण भी तेजस्वी और वीर थे। वह छठे पाण्डव के समान था और दूसरा अर्जुन ही जान पड़ता था। कर्ण वीर का बाना धारण किये कुलीन और शीलवान पुरुष की तरह उधर निकले। उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया कि कौन यहाँ स्नान कर रहा है? वह यों सहज ही उस ओर से निकल रहे थे। कुलीन पुरुष के सामने अगर कोई स्त्री आ जाती है, चाहे वह किसी भी अवस्था में हो, वह अपनी दृष्टि नीची कर लेते हैं।

द्रौपदी की दृष्टि कर्ण पर पड़ी। कर्ण को देखकर उसकी भावना वदल गई। वह सोचने लगी—यह कैसे वीर-वीर पुरुष हैं! केवल अर्जुन ही इनके समान हैं। यदि यह भी कुन्ती के पेट से जन्मे होते तो छठा पति करने में भी मैं संकोच न करती। द्रौपदी के मन में ऐसा विचार आया।

द्रौपदी का यह विचार योगविद्या द्वारा कृष्ण ने जान लिया। कृष्ण ने सोचा—द्रौपदी सती कहलाती है। उसके मन में यह पाप आया, यह तो गजब हुआ! उसका यह पाप दूर करना चाहिए। ऐसा न किया

तो संसार डूब जायगा। इस प्रकार विचार करके कृष्ण बिना बुलाये ही पाण्डवों के यहाँ पहुँचे। कृष्ण का खूब स्वागत किया—सत्कार किया गया। पाण्डव उन्हें महल में ले जाने लगे। कृष्ण ने कहा—आज मैं महल में जाने के लिए नहीं आया हूँ। मेरी इच्छा यह है कि तुम पाँचों पाण्डवों और द्रौपदी के साथ वन-क्रीड़ा के लिये चला जाय। वहीं भोजन आदि करें। भला कृष्ण की बात कौन टालता! पाण्डव और द्रौपदी, कृष्ण के साथ वन को रवाना हुए।

कृष्ण सब को साथ लिए किसी ऋषि के आश्रम के वन में गये। वह वन खूब फला-फूला था। जब सब लोग वन में घुसने लगे तो कृष्ण ने कहा—देखो, यह तपोवन है। इस में से कोई फल मत तोड़ना। सब ने कृष्ण की बात स्वीकार की।

सब लोग वन के भीतर चले। भीम शरीर से कुछ भारी थे। सब लोग आगे चले गये और वह कुछ पीछे रह गये। जाते-जाते जामुन का एक पेड़ आया। उसमें पूरे पके हुए बड़े-बड़े जामुन लगे थे। वह फल देखकर भीम अपनी लालसा न रोक सके। भीम ने सोचा—हम राजा हैं। पृथ्वी पर हमारा अधिकार है। एक फल तोड़कर खा लें तो क्या हर्ज है? अभी कोई देखता भी नहीं है। इस प्रकार विचार करके भीम ने एक जामुन तोड़ लिया। भीम ने फल तोड़ा ही था, अभी मुँह में रख भी नहीं पाये थे कि कृष्ण भीम की ओर लौटकर इस तरह देखने लगे, मानो साक्षात् ही खड़े हैं। कृष्ण ने तब भीम से कहा—भीम, तुमने यह क्या किया?

भीम बहुत लज्जित हुए। लज्जा के मारे वह काँपने लगे। कृष्ण ने कहा—माना कि तुम राजा हो, तब भी तुम्हें मेरी आज्ञा का ध्यान रखना चाहिए था।

भीम बड़े शर्मिंदा हुए। अन्त में उनसे यही कहते बना—मुझ से अपराध बन गया। क्षमा कीजिए।

कृष्ण बोले— क्षमा करने से काम नहीं चलेगा। तप की शक्ति

लगाकर इस फल को जहाँ-का-तहाँ लगाओ ।

कृष्ण की यह अद्भुत आज्ञा सुनकर भीम संकट में पड़ गये। तब कृष्ण ने कहा—क्या धर्म में यह शक्ति नहीं है ? या धर्म की शक्ति पर तुम्हें विश्वास नहीं है ?

भीम से यह कहकर कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—धर्मराज तुम भीम द्वारा उपार्जित द्रव्य का उपभोग करते हो, तो इनके पाप में भी भाग लो और प्रायश्चित करो।

युधिष्ठिर अजातशत्रु थे। उन्होंने कहा—वास्तव में भीम ने जो गलती की है, उसे मैं भी गलती मानता हूँ। इसे मिटाने के लिए आप जो कहें, वही करने के लिए मैं तैयार हूँ । बस आज्ञा दीजिए।

कृष्ण ने कहा—तुम यह कहो कि—अगर मैं कभी झूठ न बोला होऊँ तो, हे फल, तू जहाँ-का-तहाँ लग जा ।

कृष्ण की बात मानकर युधिष्ठिर ने कहा—हे फल, अगर मैं कभी झूठ न बोला होऊँ तो जहाँ-का-तहाँ लग जा ।

युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर फल वृक्ष की ओर चढ़ने लगा। उसे बीच में ही रोककर कृष्ण ने कहा—बस, धर्मराज ! तुम्हारी परीक्षा हो गई। अब भीम आओ, परीक्षा दो ।

भीम रोने जैसा होकर कहने लगे—मैंने तो इसे तोड़ा ही है। मैं क्या परीक्षा दूँ ! मेरे कहने पर कब चढ़ने लगा ! तब कृष्ण ने कहा—यह पाप तो प्रत्यक्ष ही है । इस पाप के सिवाय और कोई पाप न किया हो तो फल को आज्ञा दो । तब भीम ने कहा—हे फल, इस पाप के सिवाय मैंने अन्य पाप न किया हो तो तू ऊपर चढ़ ! फल ऊपर चढ़ने लगा । तब कृष्ण ने उसे रोक दिया ।

कृष्ण ने इसी प्रकार अर्जुन, नकुल और सहदेव की भी परीक्षा ली । जब पाँचों भाइयों की परीक्षा हो चुकी, तब कृष्ण ने द्रौपदी से कहा—भाभी, अब तुम आओ ।

द्रौपदी सिटपिटाई । उसने सोचा मुझमें कर्ण को पति रूप में

चाहने का पाप है, न जाने इस परीक्षा का परिणाम क्या होगा ? फिर उसने विचार किया—इस पाप को कौन जानता है ? उसने भी सबके समान उस फल से कहा—अगर मैंने पाण्डवों के अतिरिक्त, मन से भी किसी को पति रूप में न चाहा हो तो तू गति करके डाली में लग जा ।

द्रौपदी के इतना कहते ही फल पृथ्वी पर आ गिरा ! कृष्ण भाभी से कहने लगे—वाह ! भाभी, वाह ! तुमने यह क्या किया ? तुम्हारी जैसी पतिव्रता में यह पाप कैसे ? तुमने तो और पति की कमाई भी खो दी !

द्रौपदी लज्जा के मारे काँप उठी । वह सोचने लगी—पृथ्वी फट जा और मैं तुझ में समा जाऊँ ! वह रोने लगी । कृष्ण ने कहा—रोने से कुछ न होगा । जो पाप हो, उसे प्रकट करो । द्रौपदी रोती हुई कहने लगी—मैंने और कभी कोई पाप नहीं किया । लेकिन एक दिन मैं नहाने गई थी । संयोगवश कर्ण उधर आ गये । उन्हें देखकर मुझे विचार आया—अगर यह छठे पाण्डव होते तो इन्हें भी मैं अपना पति बना लेती ।

इस प्रकार द्रौपदी ने बालक के समान सरल भाव से अपना पाप प्रकट कर दिया । तब कृष्ण ने कहा—अब घबराने की आवश्यकता नहीं है । सच्चे हृदय से आलोचना कर लेने पर फिर पाप नहीं रह जाता । जिस मन से पाप होता है, उस मन से वह पाप कट भी जाता है । इसलिए अब चिन्ता न करके फल को आज्ञा दो ।

द्रौपदी ने अप्रतिम स्वर में कहा—अब क्या आज्ञा दूँ ? मेरा धर्म तो चला गया । कृष्ण बोले—धर्म सदा के लिए चला नहीं जाता है, वरन् गया धर्म वापस भी आ जाता है । इसलिए तुम फल को आज्ञा दो । द्रौपदी ने फल को आज्ञा देते हुए कहा—इस पाप के सिवा मैंने अन्य कोई पाप न किया हो तो, हे फल ! तू चढ़ और डाल में लग जा । द्रौपदी के यह कहने पर फल डाली में लग गया ।

कृष्ण ने कहा—बस, मेरा प्रयोजन पूरा हुआ। मैं इसी पाप को निकालने आया था। अगर यह पाप रहता तो गजब हो जाता। द्रौपदी पतिव्रता कहलाती है। पतिव्रता में इतना भी पाप रहना ठीक नहीं है।

५४ : अभिमानी योद्धा

भली-भाँति विचार-विमर्श करने के पश्चात् श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर से संधि कराने के लिए दुर्योधन के पास गये थे। मगर संधि नहीं हुई। दुर्योधन दुराग्रही था। उसने साफ-साफ कह दिया कि युद्ध के विना मैं सुई की नोक बराबर भूमि भी नहीं दूंगा।

यह सुनकर कृष्ण सोचने लगे—अब युद्ध अनिवार्य हो गया है! यद्यपि इस युद्ध से अनेक हानियाँ होंगी और युद्ध न होने देने के लिए ही मैंने प्रयत्न भी किया, पर दुष्ट कौरव अन्याय करने पर तुले हुए हैं, अतएव युद्ध अब करना ही पड़ेगा।

जब पाण्डवों को यह वात मालूम हुई तो वे रण की तैयारी करने लगे। कृष्णवती नदी के किनारे पर पाण्डवों ने अपनी सेना एकत्र करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने सैनिक ढंग से अपना शिविर वनाया। वीचोंवीच कृष्ण का तम्बू लगा हुआ था। उसके आस-पास पाँचों पाण्डवों के डेरे लगे थे और वहीं द्रौपदी का भी डेरा लगा हुआ था। द्रौपदी कार्य करने में तो पुरुषों से आगे नहीं वढ़ती थी मगर अपने विचार प्रस्तुत करने में सव से आगे रहती थी। वह वहुत उग्र विचार की थी और उसकी वाणी में वहुत ओज भरा रहता था। इसी कारण उसका तम्बू वहाँ लगाया गया था। शिविर में सेनापति धृष्टद्युम्न, राजा द्रुपद, विराट आदि के डेरे भी ढंग से लगे हुए थे। पाण्डव सवकी यथोचित व्यवस्था करते थे। उन्होंने सव राजाओं के पास युद्ध का निमन्त्रण भेजा था और उसमें स्पष्ट लिख दिया था कि जिस की इच्छा हो—जो अन्याय के प्रतीकार में सहायक वनना चाहता

हो, वह हमारी ओर से युद्ध में सम्मिलित हो जाय। कौरवों ने भी राजाओं को आमन्त्रण भेजा था। अतएव कई राजा पाण्डवों की ओर सम्मिलित हुए और कई कौरवों की ओर।

कुन्दनपुर के राजा भीम के पुत्र रुक्म ने आमन्त्रण पाकर सोचा—युद्ध का आमन्त्रण आया है, अतएव सम्मिलित होना तो आवश्यक ही है। इस अवसर पर घर में बैठा तो रह नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि किस ओर जाना चाहिये?

रुक्म ने सोचा—युधिष्ठिर का पक्ष बलवान है और न्याय भी उसी ओर है। अतः युधिष्ठिर के पक्ष में ही युद्ध करना चाहिए। लेकिन बहिन के विवाह के समय कृष्ण से मेरा जो अपमान किया था, वह अब तक मेरे हृदय में काँटे को तरह चुभ रहा है। इस युद्ध में उस अपमान का बदला लेना चाहिये। कठिनाई यह है कि कृष्ण स्वयं युद्ध नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में उन से बदला कैसे ले सकता हूँ? मगर उनके मित्र का अपमान करके मैं अपने अपमान की भरपाई कर लूँगा! इस प्रकार विचार कर और अपनी विशाल सेना को साथ लेकर रुक्म रवाना हुआ। वह पाण्डवों के शिविर में आया। युधिष्ठिर ने उसका स्वागत किया।

रुक्म ने पूछा—आप सब आनन्द में हैं न?

युधिष्ठिर—वैसे तो आनन्द-ही-आनन्द है परन्तु आपके आगमन से विशेष आनन्द हुआ।

रुक्म—अगर ऐसे समय पर भी मैं न आता तो मेरी वीरता को कलंक लगता। दुर्योधन का अत्याचार और आपका सौजन्य जगत में प्रसिद्ध हो चुका है। ऐसा होते हुए भी अगर मैं अपने घर में बैठा रहता और आपका आमन्त्रण पाकर भी न आता तो मेरा क्षत्रियत्व कलंकित हो जाता।

युधिष्ठिर—आपके विचार उच्च हैं और आपका हमारे प्रति प्रेम है। इसी कारण आप आए हैं।

रुक्म—मैं क्षात्र-धर्म का पालन करने आया हूँ। न्याय की रक्षा करना ही क्षत्रियों का धर्म है। क्षतात्-नाशात् त्रायते—इति क्षत्रियः। जो धर्म की रक्षा करता है वही वास्तव में क्षत्रिय है। ऐसे प्रसंग पर मैं न आता तो मेरी माता को भी कलंक लगता।

युधिष्ठिर—आपका कहना यथार्थ है। आपको ऐसा ही विचार रखना चाहिए।

युधिष्ठिर ने सहदेव को बुलाकर कहा—देखो, यह रुक्म आये हैं। तुम इनका सत्कार करो और इनके साथ जो सेना है उसका भी उचित सत्कार करो।

यह सुनकर रुक्म ने कहा—मैं आया तो हूँ पर स्वागत-सत्कार करने से पहले एक बात का स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए।

युधिष्ठिर—अगर कोई बात स्पष्टीकरण करने योग्य हो तो अवश्य ही उसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए।

रुक्म—मेरे हाथ में यह जो धनुष है, इसका नाम विजय है। संसार में तीन ही धनुष प्रसिद्ध हैं—सारंग, गांडीव और विजय। सारंग कृष्ण के पास है, गांडीव अर्जुन के पास है और यह विजय मेरे पास है। इन तीन में से सारंग तो आपके काम नहीं आ सकता, क्योंकि कृष्ण ने निरस्त्र रहने का निर्णय किया है। इस प्रकार अकेला गांडीव आपके पक्ष में रह गया है। मगर गांडीव, इस विजय की समानता नहीं कर सकता। यह विजय धनुप अकेला ही सम्पूर्ण कौरव-सेना पर विजय प्राप्त कर सकता है। कौरवों पर विजय पाने के लिए आपमें से किसी को भी कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। इस विजय की सहायता से मैं अकेला ही आपको विजयी बना सकता हूँ। परन्तु एक बात का खुलासा हो जाना चाहिए। इसके लिए आप अर्जुन को बुलवाइये।

रुक्म के कहने से युधिष्ठिर ने अर्जुन को बुलवाया। रुक्म ने अर्जुन से कहा—यदि आप मेरे कथनानुसार एक कार्य करें तो मैं अपना

समस्त बल आपको दे सकता हूँ।

अर्जुन—पहिले कार्य बतलाइए तो समझकर उत्तर दूंगा। बिना कार्य को समझे, करने की हाँ नहीं भर सकता। कार्य सुनने के बाद ही किसी प्रकार की प्रतिज्ञा की जा सकती है।

रुक्म—कार्य यही है कि तुम मेरे पैर पर हाथ रखकर यह कह दो कि—मैं भयभीत हूँ और तुम्हारी शरण में आया हूँ। मेरी रक्षा करो। बस, इतना करने से मेरा समस्त बल तुम्हारे पक्ष में हो जायगा।

भीम उस समय वहीं मौजूद थे। रुक्म की बात सुनकर भीम के नेत्र लाल हो गये। मगर युधिष्ठिर ने उसे रोककर रुक्म से कहा—आप अभी आये हैं, थोड़ी देर विश्राम कीजिये। इस सम्बन्ध में फिर विचार करेंगे।

रुक्म—ऐसा नहीं होगा। इसका निर्णय तो अभी हो जाना चाहिए। बोलो अर्जुन, तुम क्या कहते हो ?

अर्जुन—मुझे आश्चर्य है कि इस प्रकार का विचार आपके हृदय में कैसे उत्पन्न हुआ! मैंने कृष्ण के चरणों को हाथ लगाया है और मेरी यह प्रतिज्ञा है कि कृष्ण के सिवाय किसी दूसरे के चरण को हाथ नहीं लगाऊँगा। इसके अतिरिक्त आप मुझसे कहलाना चाहते हैं कि मैं भयभीत हूँ। मगर मैं भयभीत कब हुआ हूँ? जिस अर्जुन ने समस्त कौरव-सेना को परास्त करके भी विजय का श्रेय उत्तर को दिया, वह अर्जुन भयभीत होकर आपकी शरण में आवे, यह संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त आपके लिए भी यह शोभनीय नहीं है कि आप स्वयं किसी को शरण में बुलावें। मैंने सिर्फ कृष्ण की शरण ली है। दूसरे किसी की शरण न ली है और न ले ही सकता हूँ। आप आये हैं तो मित्र की भाँति आनन्दपूर्वक रहिये, किन्तु यह आशा न रखिये कि अर्जुन आपकी शरण में आएगा। फिर भी अगर आप यह आशा नहीं त्याग सकते तो जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिये।

अर्जुन का स्पष्ट उत्तर सुनकर रुक्म क्रुद्ध हो गया। वह कहने

लगा—मैं इतनी विशाल सेना लेकर तुम्हारी सहायता के लिए आया हूँ, तुम इतने-से शब्द भी नहीं कह सकते ! अगर तुम इतना कह दो तो एक घड़ी के छठवें भाग में ही मैं तुम्हें विजयी बना सकता हूँ और युधिष्ठिर के मस्तक पर राजमुकुट रखवा सकता हूँ ।

ऐसे प्रसंग पर आप से सलाह ली जाती तो आप अर्जुन को क्या सलाह देते ? शायद आप यही सलाह देते कि ऐसे नाजुक मौके पर रुक्म के आगे नम्र हो जाना और रुक्म के अभीष्ट शब्द कह देना ही उचित है । रुक्म को किसी भी प्रकार से अपने पक्ष में रखना चाहिए । मगर अर्जुन वीर था । रुक्म ने उससे यह भी कह दिया था कि मेरा कहना न मानोगे तो अपनी मृत्यु समीप ही समझ लेना । मैं अभी तुम्हारे शत्रु के पक्ष में मिल जाऊँगा । रुक्म की इस प्रकार की धमकी सुनकर भी अर्जुन ने परवाह नहीं की । अर्जुन ने यही कहा—अगर आपकी इच्छा विरुद्ध-पक्ष में जाने की है तो प्रसन्नता के साथ जा सकते हैं । मैं आपकी इच्छा के विरुद्ध आपको रोकना नहीं चाहता । लेकिन आपके सामने इस प्रकार की दीनता नहीं दिखला सकता । आप कौरव-पक्ष में सम्मिलित होने की सोचते हैं मगर दुर्योधन आपसे अधिक बुद्धिमान् है । वह आपके चाहे हुए शब्द कदापि नहीं कह सकता ।

रुक्म—दुर्योधन को भी मेरे कहे हुए शब्द कहने पड़ेंगे । वह नहीं कहेगा तो मैं उसके पक्ष में भी सम्मिलित नहीं होऊँगा ।

अर्जुन—यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है । मगर इस प्रकार के शब्द कहने वाला कोई नहीं है ।

रुक्म पाण्डवों की छावनी से अपनी विशाल सेना के साथ चला गया और देखते-देखते कौरवों के शिविर में जा पहुँचा । अर्जुन सोच रहा था—ऐसा अभिमानी व्यक्ति कदापि विजय नहीं दिला सकता । विजय धनुष ने उसे जीत लिया है । फिर भी उसका अहंकार संसार में ही नहीं समाता ! हमारे पक्ष में भले ही थोड़े योद्धा हों, अगर वे उच्च श्रेणी के होंगे तो हमारी ही विजय होगी । इस प्रकार के लोगों

की भर्ती करना वृथा है । धर्म के साथ व्यवहार करने वाले थोड़े व्यक्ति भी पर्याप्त हैं। धर्म को हार जाने वाले बहुत व्यक्ति भी व्यर्थ हैं, यही नहीं वल्कि हानिकारक भी हैं ।

५५ : प्रायश्चित्त

महाभारत युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर भीष्म के पास गये। भीष्म ने उनसे कहा—महाराज युधिष्ठिर ! आइए।

युधिष्ठिर शर्मिन्दा होकर बोले—आप मुझे महाराज न कहिए, पौत्र ही कहिए।

भीष्म—जिस पद को प्राप्त करने के लिए अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ है, जिस पद के लिए अनगिनती स्त्रियाँ विधवा हुई हैं और अनेक बालक अनाथ हो गये हैं तथा जिस पद के लिए कुल का संहार हुआ है, वह पद प्राप्त करने के पश्चात् आपको महाराज क्यों न कहा जाय ?

युधिष्ठिर—पितामह, मैं इस पाप के दबाव से ही आपके पास आया हूँ। मुझे जो राजमुकुट प्राप्त हुआ है, उसमें शूल-ही-शूल जान पड़ते हैं। वह मुझे ऐसा चुभता है जैसे शूलों का बना हुआ हो। मैंने महल की अटारी पर चढ़कर देखा तो राजमुकुट और भी अधिक सुइयों से भरा हुआ जान पड़ा। जो मेदिनी वीरों से भरी थी, आज वह सुनसान दीख पड़ती है। यह देखकर सिर का मुकुट हृदय में शूल-सा चुभने लगा। मैं यही सोच रहा हूँ कि इस मुकुट के पाने के लिए कितना पाप हुआ है और कितना पाप करना पड़ा है ?

युधिष्ठिर के कथन पर से आप अपने सम्बन्ध में विचार कीजिए। आपके सिर पर जो पगड़ी है उसके लिए किस-किस तरह के पाप होते हैं ? अपने शरीर का रक्त-मांस बढ़ाने के लिए दूसरों को

किस प्रकार के दुःख दिये जाते हैं ?

युधिष्ठिर का कथन सुनकर भीष्म पितामह ने सोचा—युधिष्ठिर घवरा गया है । इस समय इसे धैर्य देने की आवश्यकता है । इसका चित्त इतना कोमल और धर्मभावना का विचार होने पर यह राजमहल त्याग देगा । इस प्रकार विचार कर पितामह ने कहा—अगर तुम महाराज युधिष्ठिर कहे जाने में संकोच करते हो तो अब से मैं वेटा युधिष्ठिर कहूँगा ।

भीष्म पितामह के मुँह से अपने लिए वेटा शब्द सुनकर युधिष्ठिर अत्यन्त प्रसन्न हुए । वह बालक की तरह नम्र होकर पितामह के समीप जा बैठे । इसके अनन्तर उनका हाथ अपने सिर पर रखकर कहने लगे—पितामह, राजमुकुट मुझे तो शूल की तरह चुभ रहा है, कृपा कर मुझे ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे मैं शान्तिलाभ कर सकूँ।

भीष्म धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे । जैनशास्त्र भी यही कहते हैं और महाभारत भी । वे पूर्ण ब्रह्मचारी के रूप में प्रसिद्ध हैं । जैनशास्त्र के अनुसार भी उन्होंने अविवाहित जीवन ही बिताया था । अतएव वे सारे जगत के पितामह वनने के योग्य ही थे ।

भीष्म कहने लगे—वेटा युधिष्ठिर ! तुम किसी प्रकार का खेद मत करो । अलबत्ता यह सोचो कि विजय के लिए तुम्हें जो सहायता मिली, वह किस प्रकार मिली है ? दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें वह सहायता मिली थी । दुर्योधन का पाप फूट निकला था और इस कारण लोग समझने लगे थे कि दुर्योधन वड़ा पापी है जो धर्मनिष्ठ पाण्डवों को इस प्रकार कष्ट दे रहा है । यह सोचकर लोग स्वयं ही अपना सिर कटाने के लिए तैयार होकर तुम्हारी सहायता के लिए आये थे । इस प्रकार दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें सहायता मिली थी । इसी से तुम विजयी हुए हो । दुर्योधन का पाप तुम्हारी विजय और उसके विनाश का कारण बना है । ऐसी दशा में तुम्हें किसी प्रकार का खेद नहीं करना चाहिए ।

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह, यह तो ठीक है। लेकिन युद्ध के कारण जो वैर बंध गया है वह तो मेरे सिर पर ही रहा न !

भीष्म पितामह—ठीक है, पर इस वैर को तुम अपनी विशिष्ट वृत्ति के द्वारा शान्त कर डालो। ऐसा करोगे तभी तो तुम राजा हो।

युधिष्ठिर—पितामह, इसीलिए मैं आपके पास आया हूँ। इस सम्बन्ध में आप मुझे उचित उपदेश दीजिए।

भीष्म—संसार में ऐसी कोई आग नहीं है जो सुलगे और बुझे नहीं। इसी प्रकार जब वैर बंधता है तो मिट भी सकता है। लेकिन दूसरे के वैर को शान्त करने के लिए पहले अपने हृदय को शान्त करना चाहिए। उदाहरणार्थ—किसी राजा ने तुम्हारी सेना को या तुम्हारे किसी सम्बन्धी को मारा होगा परन्तु उसकी स्त्री या उसके बालकों ने तो तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा है ! अतएव जहाँ तक संभव हो, उनकी ऐसी सहायता करना जिससे वे समझने लगें कि युधिष्ठिर हमें सुखी बनाने के लिए युद्ध में प्रवृत्त हुआ था। जब तुम उनके हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न कर दोगे तो वैर का शमन आप ही हो जायगा। बंधा हुआ वैर रोने से नहीं मिट सकता। अगर रोना था तो युद्ध करने से पहले ही रोना था। जब युद्ध आरम्भ होकर समाप्त भी हो गया और अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो चुका तब रोने से क्या लाभ है ? अब रोना त्यागो और सब को शान्ति पहुँचाओ।

तुम कहते हो, जिस भूमि पर वीर-ही-वीर दिखाई देते थे, आज वह सुनसान दिखाई देती है। लेकिन इस विचार से दुःखी होने की क्या आवश्यकता है ? बीज शून्य भूमि में ही बोया जाता है, उस भूमि में नहीं बोया जाता जहाँ काँटे और झाड़-झंखाड़ खड़े हों। जब कांटे साफ हो गये और बीज बोने का समय आया है, तब तुम रोने बैठे हो ! रोना छोड़कर इस शून्य भूमि में ऐसा बीज बोओ कि लोग दुर्योधन को भूल जाएँ। विचार करो, लोग दुर्योधन को बुरा

किस प्रकार के दुःख दिये जाते हैं ?

युधिष्ठिर का कथन सुनकर भीष्म पितामह ने सोचा—युधिष्ठिर घबरा गया है । इस समय इसे धैर्य देने की आवश्यकता है । इसका चित्त इतना कोमल और धर्मभावना का विचार होने पर यह राजमहल त्याग देगा । इस प्रकार विचार कर पितामह ने कहा—अगर तुम महाराज युधिष्ठिर कहे जाने में संकोच करते हो तो अब से मैं वेटा युधिष्ठिर कहूँगा ।

भीष्म पितामह के मुँह से अपने लिए वेटा शब्द सुनकर युधिष्ठिर अत्यन्त प्रसन्न हुए । वह बालक की तरह नम्र होकर पितामह के समीप जा बैठे । इसके अनन्तर उनका हाथ अपने सिर पर रखकर कहने लगे—पितामह, राजमुकुट मुझे तो शूल की तरह चुभ रहा है, कृपा कर मुझे ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे मैं शान्तिलाभ कर सकूँ ।

भीष्म धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे । जैनशास्त्र भी यही कहते हैं और महाभारत भी । वे पूर्ण ब्रह्मचारी के रूप में प्रसिद्ध हैं । जैनशास्त्र के अनुसार भी उन्होंने अविवाहित जीवन ही बिताया था । अतएव वे सारे जगत के पितामह बनने के योग्य ही थे ।

भीष्म कहने लगे—वेटा युधिष्ठिर ! तुम किसी प्रकार का खेद मत करो । अलबत्ता यह सोचो कि विजय के लिए तुम्हें जो सहायता मिली, वह किस प्रकार मिली है ? दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें वह सहायता मिली थी । दुर्योधन का पाप फूट निकला था और इस कारण लोग समझने लगे थे कि दुर्योधन बड़ा पापी है जो धर्मनिष्ठ पाण्डवों को इस प्रकार कष्ट दे रहा है । यह सोचकर लोग स्वयं ही अपना सिर कटाने के लिए तैयार होकर तुम्हारी सहायता के लिए आये थे । इस प्रकार दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें सहायता मिली थी । इसी से तुम विजयी हुए हो । दुर्योधन का पाप तुम्हारी विजय और उसके विनाश का कारण बना है । ऐसी दशा में तुम्हें किसी प्रकार का खेद नहीं करना चाहिए ।

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह, यह तो ठीक है। लेकिन युद्ध के कारण जो वैर बंध गया है वह तो मेरे सिर पर ही रहा न !

भीष्म पितामह—ठीक है, पर इस वैर को तुम अपनी विशिष्ट वृत्ति के द्वारा शान्त कर डालो। ऐसा करोगे तभी तो तुम राजा हो।

युधिष्ठिर—पितामह, इसीलिए मैं आपके पास आया हूँ। इस सम्बन्ध में आप मुझे उचित उपदेश दीजिए।

भीष्म—संसार में ऐसी कोई आग नहीं है जो सुलगे और बुझे नहीं। इसी प्रकार जब वैर बंधता है तो मिट भी सकता है। लेकिन दूसरे के वैर को शान्त करने के लिए पहले अपने हृदय को शान्त करना चाहिए। उदाहरणार्थ—किसी राजा ने तुम्हारी सेना को या तुम्हारे किसी सम्बन्धी को मारा होगा परन्तु उसकी स्त्री या उसके बालकों ने तो तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा है ! अतएव जहाँ तक संभव हो, उनकी ऐसी सहायता करना जिससे वे समझने लगें कि युधिष्ठिर हमें सुखी बनाने के लिए युद्ध में प्रवृत्त हुआ था। जब तुम उनके हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न कर दोगे तो वैर का शमन आप ही हो जायगा। बंधा हुआ वैर रोने से नहीं मिट सकता। अगर रोना था तो युद्ध करने से पहले ही रोना था। जब युद्ध आरम्भ होकर समाप्त भी हो गया और अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो चुका तब रोने से क्या लाभ है ? अब रोना त्यागो और सब को शान्ति पहुँचाओ।

तुम कहते हो, जिस भूमि पर वीर-ही-वीर दिखाई देते थे, आज वह सुनसान दिखाई देती है। लेकिन इस विचार से दुःखी होने की क्या आवश्यकता है ? बीज शून्य भूमि में ही बोया जाता है, उस भूमि में नहीं बोया जाता जहाँ कांटे और झाड़-झंखाड़ खड़े हों। जब कांटे साफ हो गये और बीज बोने का समय आया है, तब तुम रोने बैठे हो ! रोना छोड़कर इस शून्य भूमि में ऐसा बीज बोओ कि लोग दुर्योधन को भूल जाएँ। विचार करो, लोग दुर्योधन को बुरा

क्यों कहते थे ? इसी कारण कि वह स्वार्थी था और उसकी सज्जनता एवं नम्रता को सत्ता खा गई थी। अगर तुमने भी अपनी सज्जनता को सत्ता का ग्रास वन जाने दिया तो तुम में और दुर्योधन में क्या अन्तर रहा ? वल्कि तुम जिस धर्म का प्रदर्शन करते हो वह ढोंग-मात्र रह जायगा और इस प्रकार तुम दुर्योधन से भी ज्यादा वुरे हो जाओगे। अतएव सत्ता मिलने पर सज्जनता को मत भूलना।

राम को राज्य मिलने की तैयारी थी लेकिन पिता का सत्य जाने लगा। तब राम ने सोचा—जिस राज्य से पिता का सत्य जाता है उस राज्य को लात मारना ही उचित है।

५६ : धीरज

महाभारत के अनुसार जब पाण्डवों को वनवास दिया गया था और द्रौपदी को नग्न करने का प्रयास किया गया था, उस समय कृष्ण द्वारिका में नहीं थे। वे कहीं बाहर गये हुए थे। कृष्ण जब लौटकर द्वारिका पहुँचे तो वहाँ के वृद्ध जन रोकर कहने लगे—पाण्डवों पर बड़ी कड़ी मुसीबत आ पड़ी है और वे वनवास भोग रहे हैं। सरल-हृदय पाण्डव ऐसी विपदा में हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। वे वीर हैं और सज्जन हैं। लेकिन दुष्ट कौरवों ने उन पर भीषण अत्याचार किया है। यहाँ तक कि द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करने का भी उन्होंने प्रयत्न किया! भले ही उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ फिर भी इससे उनकी दुर्भावना कम नहीं हो सकती। पाण्डवों को वनवास स्वीकार करना पड़ा है।

कृष्ण ने पाण्डवों के वन जाने का समाचार सुनकर पूछा—पाण्डवों का ऐसा क्या अपराध था, जिसके कारण उन्हें वन जाना पड़ा और द्रौपदी की दुर्गति हुई? वृद्ध जनों ने उत्तर दिया—अन्याय के सामने अपराध होने या न होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जिसे अन्याय करना है, अपना स्वार्थ साधना है, वह यह कब देखता है कि इसने अन्याय किया है या नहीं किया है?

कृष्ण ने पूछा—इस समय वे कहाँ हैं?

वृद्ध जन—वन में वनवासी लोगों की तरह भटकते फिरते हैं।

यह कथन सुनकर कृष्णजी कुछ मुस्कराये। वृद्ध जनों की समझ में नहीं आया कि कृष्णजी दुःखी होने के बदले मुस्कराते क्यों हैं?

उन्होंने कहा—क्या कारण है कि आप पाण्डवों की दुर्दशा की कथा सुनकर मुस्करा रहे हैं ?

कृष्ण—मेरी मुस्कराहट का कारण आप लोग नहीं जानते। मगर समय आने पर आप जान जाएँगे। इस समय मैं पाण्डवों से मिलना चाहता हूँ। सुख के समय चाहे न भी मिलता लेकिन दुःख के समय मिलना ही चाहिए।

कृष्ण रथ पर सवार होकर पाण्डव वन गये। वहाँ द्रौपदी सहित पाण्डव पर्णकुटी बनाकर रहते थे। कृष्ण पहुंचे। पाण्डवों के पास उस समय स्वागत के योग्य कोई विशिष्ट सामग्री नहीं थी, तथापि स्नेह और श्रद्धा से परिपूर्ण हृदय उनके पास था और उदार आशय वाले पुरुषों के लिए यही पर्याप्त होता है। विवेकशील पुरुष द्रव्य की अपेक्षा भाव को ही प्रधानता देते हैं। कृष्णजी प्रेम के साथ बिछाई गई चटाई पर आसीन हुए। कृष्णजी के बैठ जाने पर आसपास पाण्डव भी बैठ गये और तनिक दूर द्रौपदी भी बैठी।

कृष्णजी बड़े कुशल थे। उन्होंने पाण्डवों और द्रौपदी के चेहरों पर एक उड़ती निगाह डाली और समझ गये कि द्रौपदी की दृष्टि में उग्रता है। यह देखकर उन्होंने सर्वप्रथम द्रौपदी से ही प्रश्न किया—कृष्णा ! आनन्द में तो हो ?

द्रौपदी राजकुमारी थी। बाल्यकाल से ही वह सुखों में रही और उसने कभी नहीं जाना था कि दुःख किस चिड़िया का नाम है ! वह राजसी भोग भोगती थी और राजसी भोजन में भी रुचि रखती थी। मगर दुर्योधन के प्रपंच में पड़कर इन दिनों वह बहुत परेशान हो उठी थी। आज वह नगर छोड़कर जंगल में और महल छोड़कर झोंपड़ी में रहती है। पट्रस व्यञ्जन के बदले उसे जंगल के फल-फूलों पर निर्वाह करना पड़ता है। आज उसे किसी भी प्रकार की सुख-सुविधा नहीं है। उसे लगता है मानो उसके जीते जी ही जीवन बदल गया है ! यह सब जानते हुए भी कृष्णजी उससे पूछ रहे

हैं—कृष्णा ! आनन्द में तो हो ? आखिर इस प्रश्न का रहस्य क्या है ? इस रहस्य का पता उन्हीं से लग सकता है।

प्रश्न के उत्तर में द्रौपदी कहने लगी—कृष्णजी ! आपने मुझे अपनी वहिन वनाया है लेकिन आपकी इस वहिन की आज-कल क्या दशा हो रही है, यह तो आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं। आपकी वहिन की जैसी दुर्दशा हुई है, वैसी शायद किसी की न हुई होगी। दुष्ट कौरवों ने मेरी यह दशा की है कि कहा नहीं जा सकता। भरी सभा में लाज छीन लेनी चाही। वे मुझे नग्न करना चाहते थे, मगर न जाने किस अदृश्य शक्ति ने मेरी रक्षा की। मैं सर्वथा निर्दोष थी और हूँ। फिर भी पापी दुःशासन मुझे महल में से सभा में खींच लाया। उसने मेरे सिर के केश पकड़कर खींचे हैं और इस प्रकार मेरे केशों को मलीन कर दिया है। राजसभा में साधारण कुल की स्त्री भी नहीं वुलाई जाती और केश तो किसी के खींचे ही नहीं जाते। मगर आपकी वहिन के साथ यह सव दुर्व्यवहार किया गया। मैंने सभा में प्रश्न किया था—आप सभा में उपस्थित गुरुजन मेरे लिए पूज्य हैं। इसलिए मैं आपसे पूछती हूँ कि धर्मराज पहले अपने आपको हारे हैं या पहले मुझे हारे हैं ? अगर वे पहले मुझे हार गये हों तव तो कुछ कहने की गुंजाइश ही नहीं रहती। अगर ऐसा नहीं है तो मेरे साथ यह अन्याय क्यों किया जाता है ? सभा में उपस्थित लोगों को भलीभाँति मालूम था कि धर्मराज पहले अपने को हार चुके थे, फिर भी किसी ने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। सव के सव सोंठ होकर वैठे रहे, मानो सव की जीभ पर ताला लगा हो। किसी ने मुंह खोलने का साहस नहीं किया। अलवत्ता एक वीर युवक उस समय अवश्य वोला था, मगर उसे कौरवों ने सभा से वाहर निकाल दिया।

मेरे प्रश्न को सुनकर दुर्योधन कुछ देर के लिए हतप्रभ हो गया था। वह न्याययुक्त तरीके से उसका प्रतीकार करने में असमर्थ था। अतएव वह और क्रुद्ध हो गया और दुःशासन से कहने लगा—

इस कानून बघारने वाली का मुख बन्द कर दे ! अब आप बतलाइए किसी का इस प्रकार बलात् मुख बन्द कर देना क्या उचित कहा ज सकता है ? दुःशासन मेरा वस्त्र खींचने लगा । मैंने वहाँ उपस्थित सब लोगों से उस भयंकर अन्याय को रोकने की प्रार्थना की । मगर किसी के कान पर जूं न रेंगी । सभी कानों में तेल डाले, प्रतिमा की तरह चुपचाप बैठे रहे ।

अन्याय, अत्याचार और उपेक्षा का यह दृश्य देखकर मुझे बड़ी निराशा हुई । तब मैंने विचार किया—दूसरे लोग चुप हैं तो रहें, यह पाँचों भाई क्या कम हैं ? इन्हें तो आवेश आवेगा ही । यह सोचकर मैंने अत्यन्त करुण शब्दों में इन सब से कहा—यह मेरी नहीं, तुम्हारी लाज जा रही है । इस कारण मेरी रक्षा करो । मेरी करुण पुकार सुनकर भीम और अर्जुन उठे भी, मगर धर्मराज ने बाँह पकड़कर दोनों को फिर बैठा दिया । तब मैंने सोचा—वास्तव में कोई किसी का नहीं है ।

हे कृष्ण ! मैं सोचती हूँ, आप वहाँ होते तो मेरी रक्षा अवश्य करते । परन्तु दुर्दैव से आप वहाँ मौजूद नहीं थे । अतएव मैंने परमात्मा का स्मरण करके कहा—प्रभो ! मैं तेरी शरण हूँ । इस प्रकार मन-ही-मन प्रार्थना करके मैंने अपना मन परमात्मा में लगा दिया । उस समय शरीर पर से भी मैंने ममता हटा ली । मैं अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर चुकी थी । पितामह जैसे आदर्श पुरुष भी वहाँ मौजूद थे और पतिदेव भी चुपचाप बैठे थे । तब अकेली मैं क्या कर सकती थी ? इस प्रकार सोचकर मैंने शरीर का ममत्व त्याग दिया । शरीर पर से ममत्व त्याग देने के पश्चात् क्या हुआ, यह मुझे मालूम नहीं लेकिन मैंने सुना है कि उस समय मेरे शरीर के वस्त्र इतने बढ़ गये थे कि दुःशासन खींचते-खींचते थक गया था, वह मुझे नग्न नहीं कर सका । साथ ही सभा में बहुत क्रान्ति हुई । उस समय मैंने अन्धराज को यह कहते सुना—हे कुलवधू ! क्षमा

करो। यह आवाज सुनकर मैं अपने आपे में आई। उस समय मैंने देखा कि सभा में केवल धृतराष्ट्र ही हैं, और कोई नहीं है। वे कह रहे हैं—हे कुलवधू! मेरे पापी पुत्रों को क्षमा करो। मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ। मैंने उनसे कहा—आप मेरे पूज्य हैं। मैं ही आपसे क्षमा माँगती हूँ।

इतना कहकर द्रौपदी ने एक लम्बी साँस ली। फिर उसने कहा—हे भाई! मेरे लिए वह समय कितने कष्ट का था! मुझे कितना कष्ट सहन करना पड़ा है, किस प्रकार घोर अपमान सहना पड़ा है! क्या यह आपके लिए भी लज्जा की बात नहीं है?

द्रौपदी की यह बात सुनकर कृष्ण हँस पड़े। द्रौपदी के विषाद का पार न रहा। वह समझती थी कि मेरी कष्ट कथा सुनकर कृष्णजी सहानुभूति प्रकट करेंगे और दुःख के आँसू बहाएँगे। मगर कृष्णजी की हँसी ने उसकी धारणा को नष्ट कर दिया। वह तिलमिला उठी। बोली—मेरे दारुण दुःख की कहानी क्या अपने मनोरंजन के लिए ही सुनी है?

कृष्ण ने कहा—बहिन! तुझे नहीं मालूम कि मैं क्यों हँसा हूँ। तुझे यह भी पता नहीं कि इतने कष्ट आने का कारण क्या है।

द्रौपदी—क्या इसमें भी कोई रहस्य है?

कृष्ण—हाँ।

इसके बाद कृष्ण बोले—किसी साधारण स्त्री को कष्ट हो और वह रोवे तो उसका रोना अनुचित नहीं कहा जा सकता। मगर तुम्हारा रोना उचित नहीं है। तुम्हें विचार करना चाहिए कि तुम्हारे कष्टों का कारण क्या है? तुम जैसी महिला को भी कष्ट न हो और तुम्हारी सरीखी महिला अगर उन कष्टों को सहन न कर ले तो जगत् का उद्धार कैसे हो सकता है? लोग अकसर दुःख आ पड़ने पर घबरा जाते हैं मगर यह नहीं सोचते कि इनके पीछे क्या रहस्य छिपा हुआ है! दुःखों के पीछे रहे हुए रहस्य का विचार

करके मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए। तुम दुःखों से घबरा रही हो, मगर दुःख ही तो सुख का बीज है। तुम्हारे इन दुःखों में ही जगत् का कल्याण छिपा है। तुम अपना दुःख देखती हो किन्तु उसके भीतर छिपा कल्याण नहीं देखतीं। दुर्योधन पर मुझे किसी प्रकार कोप नहीं है। मैं सिर्फ यह कहता हूँ कि वह मदोन्मत्त है। उसके पापों का घड़ा तुम्हारे साथ घोर अन्याय करने से भर गया है। वह तलवार के बल पर सबके ऊपर शासन करना चाहता है। अगर दुर्योधन सब के हृदय में बैठना चाहता तो कोई झंझट न होता। इस स्थिति में उसका व्यवहार इससे उलटा ही होता। मगर वह हृदय में नहीं बैठना चाहता—सिर पर सवार होना चाहता है। उसके द्वारा तुम्हें कष्ट क्यों सहन करने पड़े और धर्मराज ने तुम्हें इन कष्टों से क्यों नहीं बचाया, यह तुम नहीं जानतीं। इसी कारण तुम दुःख मना रही हो। उस समय मैं वहाँ नहीं था। कदाचित् होता भी तो चुपचाप धर्मराज के पास बैठा रहता और तुम्हें कष्ट से बचाने का प्रयत्न न करता।

द्रौपदी—आह ! क्या आप भी मेरा घोर अपमान बैठे-बैठे देखते रहते ?

कृष्ण—बहिन ! जिसे तुम अपमान कहती हो, उसे अगर मैं भी अपमान समझता तो हर्गिज चुपचाप सहन न करता। तुम जानती नहीं हो, इसी कारण उन घटनाओं को अपना अपमान समझती हो और दुःख मानती हो। जब रहस्य को जान जाओगी तो वे घटनाएँ न अपमान जान पड़ेंगी और न उनके कारण दुःख ही मनाओगी।

जब श्रीकृष्ण, द्रौपदी से इस प्रकार कह रहे थे, तब भीम ने बीच में टोककर उनसे कहा—आपका कथन यथार्थ है पर उन अन्धे के कपूतों को उस समय जरा भी औचित्य का ध्यान नहीं रहा ! क्या यह विचारणीय बात नहीं है ? उस घटना के लिए हम लोगों को लज्जित नहीं होना चाहिए ?

भीम की क्रोध से भरी बात सुनकर श्रीकृष्ण उनकी ओर मुड़े और कहने लगे—भीम, द्रौपदी की अपेक्षा तुम्हें समझाना कठिन है। तुम्हें अपने बल का अभिमान है और जिसे अभिमान होता है उसे समझाना कठिन होता है। तुम जो कह रहे हो सो अपने स्वभाव के अनुसार कह रहे हो। पर यह तो सोचो कि दुर्योधन ने सब के सामने द्रौपदी को क्यों नग्न करना चाहा था। इसका कारण यही था कि उसके पापों का घड़ा भर चुका था और अब उसका भंडाफोड़ होना लाजिमी था। उसका पाप इतना बढ़ गया था कि वह प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकता था। उसने पहले जो कुछ किया था वह छिपकर और प्रकट में हितैषी बनकर किया था। लेकिन इस कृत्य ने उसके पापों को प्रकट कर दिया है। अब सभी जान गये हैं कि दुर्योधन कितना अन्यायी और पापी है। द्रौपदी को नग्न करने की घटना को सुनकर कौरवों के शत्रुओं को तो घृणा हुई है, साथ में उनके मित्रों को भी कम घृणा नहीं हुई है। दुर्योधन के हितैषी भी उसके इस अपराध के कारण उस पर रुष्ट हो गये हैं। इस प्रकार उसका पाप चरम सीमा पर पहुंच गया है और उसकी स्थिति बहुत कमजोर हो गई है। इस घटना ने तुम्हारा महत्त्व बढ़ाया है और कौरवों का पाप बढ़ाया है। लाखों उपाय करने पर भी जगत से जो सत्कार तुम्हें मिल सकता था, वह सत्कार इस घटना से मिल गया है। भले दुर्योधन तुम लोगों की निन्दा और अपनी प्रशंसा करता फिरे, मगर अब उसका प्रयत्न निष्फल ही होगा। इस घटना के कारण वह तुम्हारी निन्दा फैलाने में असमर्थ हो गया है। इस प्रकार जो कुछ हुआ है उसके लिए शोक और परिताप मत करो। तुम्हारे हक में अच्छा ही हुआ है। तुम्हें प्रसन्न रहना चाहिए।

तुम यह सोचकर लज्जित होते हो कि हम लोग द्रौपदी का अपमान चुपचाप देखते रहे और कुछ बोले नहीं। पर तुम्हारा यह सोचना उचित नहीं है। तुम्हारी क्षमा ने ही इस घटना का मूल्य

बढ़ाया है । मैं मानता हूँ कि तुम वीर हो और तुम्हारी भुजाओं में असीम बल है, फिर भी उस समय होने वाले अपमान को तुम रोक नहीं सकते थे । कदाचित् रोक देते तो भी आज तुम्हारी स्थिति जितनी मजबूत है उतनी न होती । द्रौपदी की लाज रह ही गई, मगर तुम्हारी शान्ति ने घटना के स्वरूप को एकदम बदल दिया है । जिन घटनाओं के कारण तुम दुःख मना रहे हो, उनके पीछे क्या रहस्य है, यह तुम्हें नहीं मालूम । अदृष्ट पर्दे की ओट में क्या खेल खेल रहा है, दैव का क्या विधान है और किस योजना से उसकी पूर्ति होती है, यह समझना सर्वसाधारण के लिए सरल नहीं है । इस घटना के रहस्य को मैं जानता हूँ या युधिष्ठिर जानते हैं ।

अन्त में द्रौपदी ने कहा—कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि दुर्योधन महल में मौज करता है और हम लोग यहाँ वन में कष्ट भोग रहे हैं ।

तब कृष्ण ने उत्तर दिया—तुम फिर भूल कर रही हो । दुर्योधन राजमहल की रगड़ से क्षीण हो रहा है और पाण्डव वन में विकसित हो रहे हैं और बलवान बन रहे हैं । इस बात को तुम क्यों भूल रही हो ? यों मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ । तुम सब को वन में से द्वारिका ले जा सकता हूँ । द्वारिका के राजमहलों में तुम्हारे योग्य पर्याप्त स्थान है । लेकिन ऐसा करना मैं उचित नहीं समझता । पाण्डवों के इस वनवास को मैं कष्ट नहीं समझता वरन् तप समझता हूँ । अतएव उचित यही है कि तुम सब वन में रह कर धैर्यपूर्वक तप करो । इसका परिणाम निश्चित रूप से अच्छा ही होगा ।
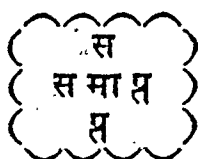
सज्जनों की विभूतियाँ परोपकार के लिए ही होती हैं।

—कालि